आंखन देखी (अमरीका मेरी निगाहों से)

यात्रा वृत्तांत

- डॉ. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

[नव्या,

आस्था,

आरोह

और उनकी पूरी पीढ़ी को]

अनुक्रम

*****

सुपरिचित साहित्यकार डॉ दुर्गाप्रसाद अग्रवाल की यह कृति "आंखन देखी" महज़ एक यात्रा वृत्तांत नहीं है.

यद्यपि इस पुस्तक में डॉ अग्रवाल ने अपनी अमरीका यात्रा के विविध अनुभवों को शब्दबद्ध किया है, पर यह कई कारणों से एक अनूठी साहित्यिक कृति बन गई है. डॉ अग्रवाल ने विश्व के अग्रणी पूंजीवादी देश अमरीका को खुली आंखों और बिना पूर्वाग्रहों के तो देखा ही है और उसकी उन्मुक्त सराहना भी की है, किंतु इसे उनकी अतिरिक्त सम्वेदनशीलता और वैचारिक प्रतिबद्धता का सुफल ही माना जाना चाहिए कि वे इस समृद्ध, सफल समाज की विसंगतियों को भी देखने और बताने से नहीं चूके हैं.

इस कृति में अमरीका के भौतिक पक्ष की अपेक्षा उसके मानवीय पक्ष को अधिक प्रमुखता दी गई है. और इसी के साथ, जो बात इस पुस्तक को इस तरह के अन्य रचनाकर्म से अलग तथा बेहतर सिद्ध करती है वह है रचनाकार की साहित्यिकता. अपने सामान्य वर्णनों में भी डॉ अग्रवाल का साहित्यिक स्पर्श, और स्थान-स्थान पर साहित्यकारों और साहित्य के सन्दर्भ इस पुस्तक को एक दुर्लभ गरिमा प्रदान करते हैं.

डॉ अग्रवाल के पास जो सहज प्रवाहमयी भाषा है वह इस पुस्तक को ऐसी पठनीयता प्रदान करती है जो इधर के बोझिल साहित्यिक लेखन के घटाटोप में विरल हो चली है.

....

आंखन देखी

(अमरीका मेरी निगाहों से)

दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

भूमिका

यार ! सच तो यह है....

हिन्दी में जो विधाएं अपेक्षाकृत कम समृद्ध हैं उनमें से एक है यात्रा-वृत्तांत. बावज़ूद इस बात के कि पिछले कुछ वर्षों में अनेक कारणों से लोगों का देश-विदेश भ्रमण बढ़ा है, हिन्दी में इस विधा में उतना नहीं लिखा गया. कम से कम मुझे तो इस प्रतीति से खुशी नहीं होती कि चालीसेक साल पहले की 'चीड़ों पर चांदनी' (निर्मल वर्मा), 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूंद सहसा उछली' (दोनों- अज्ञेय), 'आखिरी चट्टान तक' (मोहन राकेश) और 'हरी घाटी' (रघुवंश) ही अब तक भी इस विधा की शीर्षस्थ कृतियां हैं. ऐसा नहीं है कि इस बीच कुछ भी नहीं लिखा गया है. लोगों ने पारिवारिक अथवा महिला पत्रिकाओं के उपयुक्त यात्रा-वृत्तांत खूब लिखे, जिनकी अपनी उपादेयता है. कृष्णनाथ के यात्रा वृत्तांतों का अपना एक अलग स्वाद रहा, तो अमृतलाल वेगड़ ने अपने लेखों से अपने परिवेश को अमरत्व प्रदान किया. मंगलेश डबराल ने आयोवा के संस्मरण (एक बार आयोवा) लिख कर बुद्धिजीवी पाठक को तृप्त किया. इस सूची में और भी बहुत कुछ जोड़ा जा सकता है. बावज़ूद इसके, दुखद स्थिति यह है कि हिन्दी में यात्रा वृत्तांत विधा समृद्ध नहीं है. बकौल ललित सुरजन (समय की साखी पुस्तक में) "एक दर्जन पुस्तकें हैं. उनका ही नाम बार-बार लेते रहिये." इन दर्जन भर पुस्तकों में देशी और विदेशी दोनों यात्राओं के वृत्तांत शरीक हैं. मुझे लगता है कि संचार माध्यमों के द्रुत विकास के कारण परदेस भी अब उतना परदेस नहीं रह गया है. हर दूसरी फिल्म और चौथे सीरियल की लोकेशन कोई न कोई परदेस ही है. परिणाम यह कि आप चाहे बंगलूर में रहने वाले अमीर हों या छिन्दवाड़ा में रहने वाले किसान, परदेस अब आपके लिए बहुत अनजाना नहीं रह गया है.

शायद यह भी एक कारण है कि लोग अब पहले की तरह उत्साह से यात्रा-वृत्तांत नहीं लिखते. परदेस की चकाचौंध में देश तो वैसे ही नेपथ्य में धकेला जा रहा है - खास तौर पर संचार माध्यमों में.

लेकिन क्या यात्रा वृत्तांत महज़ यह बखान होता है कि अमरीका में ऊंची-ऊंची इमारते हैं, या लंदन में एक ब्रिज है, या चीन की दीवार बहुत विशाल है या.. ये सारी जानकारियां और इनसे भी बहुत अधिक तो आसानी से वैसे ही सुलभ हैं. जब पहली बार अमरीका आ रहा था और मित्रों ने कहा कि आप भी कुछ अवश्य लिखना, तो मेरे मन में भी यही था कि एक-डेढ़ महीना अमरीका में रह कर तो मैं भी ऐसा ही कुछ लिख सकूंगा. और यह लिखने से तो बेहतर है कि नहीं ही लिखा जाए. सो नहीं लिखा.

फिर दूसरी बार अमरीका आने का संयोग बना. कारण शुद्ध निजी-पारिवारिक था. बेटी चारु का प्रसव. इसी के साथ खूब घूमे-फिरे, मौज़-मज़ा किया. और क्या? चल खुसरो घर आपने..

लेकिन ऐसा हो नहीं पाया. यहां रहते-रहते, घूमते-फिरते, बेटी-दामाद के मित्र-परिवारों से मिलते-जुलते कुछ चीज़ें अनायास ही मन में आकार लेने लगीं. इस तरह जिस अमरीका को हम देख रहे थे वह खूब देख-पढ़-लिख कर भी मेरे लिए अब तक अनजाना ही था. शायद औरों के लिए भी होगा. और, बिना किसी योजना तथा इरादे के एक दिन एक लेख कागज़ पर उतर आया. तटस्थ होकर पढ़ा तो लगा कि क्या हर्ज़ है अगर ऐसी ही कुछ बातें और लिख ली जाएं! इसी बीच एक मित्र दंपती घर आए, चारु ने उनसे मेरे लिखे की चर्चा की, उन्होंने आग्रह किया तो मुझे पढ़कर सुनाना भी पड़ा. उनकी प्रतिक्रिया ने मेरा उत्साह काफी बढ़ाया. उन्होंने कहा कि यहां जो भी आता है, अमरीका की बुराई ही देखता-करता है, जबकि आपने इसका उजला तथा सकारात्मक पक्ष देखा-लिखा है. इससे मुझे एक बात याद आ गई. अपनी पहली यात्रा के बाद जब भारत लौटा था तो एक पुराने विद्यार्थी से पत्राचार में बहस-सी हो गई थी. उसने व्यंग्य में लिखा था कि मैं भौतिकता, विलासिता, नग्नता, अश्लीलता वगैरह के देश की सैर कर आया हूं, और मैंने उसे जवाब में लिखा कि यहां सरे-आम कोई नग्नता, अश्लीलता वगैरह नहीं है. जो है वह भारत से तो कम ही है. इस बात से वह उखड़ गया और उसने बहुत नाराज़ होकर लिखा कि "आप तो हर चीज़ का सकारात्मक पक्ष ही देखते हैं". हो सकता है, वाकई ऐसा ही हो. और या फिर यह हो कि कुछ चीज़ों की एक छवि हम मन में बना लेते हैं, उससे भिन्न कुछ भी हमें स्वीकार नहीं होता, जबकि सच केवल वही नहीं होता है. कई सन्दर्भों में मुझे ऐसा ही लगा. एक दिन यहां ब्रिटनी स्पीयर्स का एक एलबम सुन रहा था. ब्रिटनी नई पीढ़ी की

रोल मॉडल है और कुख्यात सेक्स सिम्बल है. एलबम में एक गीत था – 'लकी' (Lucky). गीत क्या था, करुण-कथा ही थी. कम से कम मेरी जानकारी में तो नहीं है कि हिन्दी के लोकप्रिय (पॉप?) गीतों में ऐसा सूक्ष्म मार्मिक गीत कोई हो. ब्रिटनी का देह पक्ष तो सब देखते हैं (और देख कर, आनन्दित होकर, उसकी आलोचना भी करते हैं) पर यह प्रशंसनीय, महत्वपूर्ण, सम्वेदनपूर्ण पक्ष तो अनदेखा ही रह जाता है. मुझे यह भी याद आया कि अपने प्रगतिशील रुझान और ऐसी ही संगत की वजह से मैं भी अमरीका विरोध और निन्दा को ही ओढ़ता-बिछाता रहा हूं, लेकिन यहां आकर मुझे उससे अलग लग रहा है. यह भी याद आया कि मेरे एक घनघोर प्रगतिशील लेखक मित्र भी मेरी ही तरह पारिवारिक कारण से दो-एक महीने के लिए अमरीका आए थे और एक दिन मुझसे कह रहे थे कि "यार दुर्गा बाबू, हम लोग इनकी चाहे जितनी निन्दा-आलोचना करें, सच तो यह है कि.... " और वही हाल मेरा भी हो रहा था.

यानि जो छवि मन में बना रखी थी, जो पढ़ते रहे थे वह एक तरफ और जो देख रहे थे वह उससे काफी अलग. इसी से याद आ गए अपने कबीर दास. वो क्या कहा था उन्होंने – "तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखन देखी". तो क्या हर्ज़ है, आंखन देखी को लिख ही दिया जाए?

और इसीलिए यह किताब.

लेकिन यह किताब पारम्परिक अर्थ में यात्रा वृत्तांत नहीं है. संस्मरण भी नहीं है. कुल मिलाकर तो यह 'अमरीका जैसा मैंने देखा' टाइप कुछ है. वैसे भी पाठक तो किताब पढ़ता है, विधा नहीं. विधा का सवाल तो साहित्य के पेशेवर आलोचकों का है. किताब में व्यक्तिगत चर्चा काफी है. उसे निकाल भी सकता था. पर तब जो किताब बनती वह नीरस और निर्वैयक्तिक होती. मुझे लगा कि भले ही मेरे परिवार और मेरे जीवन में आपकी कोई दिलचस्पी न हो, उसके ज़िक्र के साथ अमरीका के बारे में पढ़ना आपको ज़्यादा अच्छा लगेगा.

यह किताब अमरीका की राजनीति का समर्थन नहीं है. पूंजीवाद से मेरी असहमति अब भी बरकरार है. इस किताब में बड़े और सैद्धांतिक सवालों को उठाने का कोई प्रयास नहीं है. सोचा समझा प्रयास अमरीका की प्रशंसा या उसके बचाव का भी नहीं है. बल्कि, इस किताब को तैयार करते हुए, जिसमें कि अमरीका के नागरिक जीवन और वहां के आम नागरिक की उन्मुक्त प्रशंसा है, मेरे मन को यह प्रश्न कुछ ज़्यादा ही बेचैन करता रहा है कि जिस देश के नागरिक इतने अच्छे हैं उस देश का निज़ाम इतना क्रूर, मानवता विरोधी

क्यों है? क्या जनता और शासन में कोई अंत:सम्बंध नहीं होता? सारी दुनिया में चौधराहट,हिंसा, रक्तपात, शोषण - यही तो करता रहा है अमरीकी शासन! बहुत कम अवसर आते हैं जब कोई अमरीका की भूमिका की सराहना कर पाता है. तो, अमरीका का यह पक्ष मेरी स्मृति में बराबर रहा है, लेकिन इसके बावज़ूद वहां का आम जीवन, वहां का आम नागरिक मुझे अच्छा लगा. और यही मैंने लिख दिया. मैं कोई निश्चित लाइन लेकर नहीं चला हूं. इसलिए इस किताब में कई जगह विरोधाभास भी महसूस होगा. लेकिन राजनीतिक रूप से जिस अमरीका की सर्वत्र आलोचना की जाती है, उसी अमरीका के आम लोगों के इस वृत्तांत से हो सकता है कुछ लोगों को चीज़ों को दूसरे पहलू से देखने में मदद मिले. अगर ज़रा भी ऐसा हो सका, मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगा.

इस किताब के सारे अध्याय अमरीका में रहते हुए ही लिखे गए हैं. इसीलिए अमरीका के लिए 'यहां' और भारत के लिए 'वहां' का प्रयोग है. अब जब भारत पहुंचकर यह किताब अपने पाठकों को सौंपने की तैयारी कर रहा हूं, मुझे अमरीका के उन सारे मित्र परिवारों की याद आ रही है जिनके कारण वे सारे अनुभव जुट सके जो इस किताब में हैं. सबका तो नामोल्लेख भी सम्भव नहीं है, पर कुछ का ज़िक्र करने से खुद को रोक नहीं पा रहा हूं. रजनीश (उर्फ राज) और दीपिका हमारे बहुत नज़दीक रहे हैं. राज की बहिन नयनतारा भी. दीपिका के माता-पिता उषाजी व राकेश जी भी. राज की चाचीजी, नलिनी व सुमित भी. इनसे खूब मिलना-जुलना तथा विमर्श होता रहा. अपने डॉक्टर मित्र दंपती पंकज और आरती की चर्चा एकाधिक स्थानों पर की है. इनसे मुझे यहां के जीवन और सवालों को समझने में बहुत मदद मिली. पंकज वेल इंफॉर्म्ड हैं और चीज़ों को बहुत गहन, विश्लेषणात्मक तथा सुलझे-सकारात्मक नज़रिए से देखते हैं. चारु-मुकेश के असंख्य मि - नरेश-अंशु, अभिजित-दीपाली, मनोज-आशिता, सुनील-राधू, अजय-मोना, सुधा-सूरज, मुकेश शाही से हुई अनगिनत चर्चाओं ने इस किताब के लिए खाद-पानी का काम किया है.

और जिस बात को टालता रहा हूं, अब वह.

चारु-मुकेश. कहना भी चाह रहा हूं, संकोच भी है. अपने बच्चों के बारे में बात करना आसान नहीं होता. चारु तो शुरू से ही मेरे लिखे की पाठक और बेबाक समीक्षक रही है. अब चारु-मुकेश कहना उचित लग रहा है. इन दोनों की ही प्रतिक्रियाओं, सुझावों और सूचनाओं ने मुझे इस किताब को पूरा करने में बहुत मदद दी है. मुकेश मेरे कम्प्यूटर गुरु भी बन गये. इनके मार्गदर्शन में ही मैं कम्प्यूटर पर इस किताब की पाण्डुलिपि तैयार कर सका. इन दोनों की सहायता से मैं इण्टरनेट का खूब उपयोग कर सका. इन दोनों के ही कारण मेरे लिए अमरीका की लाइब्रेरी का उपयोग भी सम्भव हुआ (लाइब्रेरी

की विस्तृत चर्चा एक लेख में है.) अमरीका की दोनों यात्राएं तो इनके कारण हुई ही. इसलिए इस पुस्तक के मूल में तो ये ही हैं. अपने बच्चों के बारे में इससे ज़्यादा नहीं कहा जाना चाहिये न?

पत्नी विमला दोनों ही यात्राओं में साथ थीं. पूरी जीवन यात्रा की ही साथिन हैं वे. इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है उस सबकी चर्चा उनसे निरंतर होती रही है. एक तरह से तो यह किताब हम दोनों का समवेत सृजन है. इसलिए यह कहना गैर-ज़रूरी है कि इस किताब के लिखने में भी उनका भरपूर सहयोग रहा है. पुत्र विश्वास और पुत्रवधु सीमा ने भी इस पुस्तक के अनेक अध्यायों को पढ़कर अपने सुझाव दिये हैं. उनका आभार तो क्या मानूं?

स्वाभाविक ही था कि भारत लौटकर अपनी यह पाण्डुलिपि अपने मित्रों को दिखाता. पिछले कई वर्षों से यह हो रहा है कि जब भी कुछ लिखता हूं, सबसे पहले उसकी चर्चा अपने मित्र, हिन्दी के प्रतिभाशाली आलोचक डॉ माधव हाड़ा से अवश्य करता हूं. वे भी प्रायः ऐसा ही करते हैं. इतनी समझ हममें परस्पर विकसित हो गई है कि खुल कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देते हैं. बिना यह सोचे कि यह प्रशंसा है अथवा आलोचना. यह मानते हुए कि अगर आलोचना भी है तो इसलिए कि जो लिखा है उसे बेहतर बनाया जा सके. यह पाण्डुलिपि भी सबसे पहले उन्हीं ने पढ़ी है. उनके अनेक सुझावों से यह पुस्तक बेहतर हो पाई है. उन्हीं के सुयोग्य शिष्य, युवा और उत्साही प्राध्यापक डॉ पल्लव ने भी इस पाण्डुलिपि को बेहतर बनाने के लिए अनेक सुझाव दिये. अपने अग्रज डॉ मनोहर प्रभाकर, 'समय माजरा' के सम्पादक और सुपरिचित कथाकार डॉ हेतु भारद्वाज, सुपरिचित व्यंग्यकार डॉ यश गोयल, सुधी मित्र विमल जोशी, नाबार्ड के वरिष्ठ प्रबंधक श्री जी आर केजरीवाल, युवा मित्र यशवंत गहलोत, हमारे निकटस्थ श्री आनन्द कुमार गर्ग, ने भी प्रकाशन पूर्व ही इस पुस्तक को पढ़ कर अनेक सुझाव प्रदान कर मुझे उपकृत किया है.

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करते समय मेरे सामने एक बड़ी उलझन इस देश (संयुक्त राज्य अमरीका) के नाम की नागरी वर्तनी को लेकर रही है. अंग्रेज़ी वर्तनी (America) के अनुरूप उपयुक्त था कि मैं 'अमेरिका' लिखता. प्रारम्भ में लिखा भी. लेकिन कुछ संशय होने पर जब ध्यान दिया तो पाया कि हिन्दी में इसे कई तरह से लिखा जाता है. अमरीका, अमेरीका, और अमेरिका. बीबीसी हिन्दी सेवा वाले इसे 'अमरीका' लिखते हैं. अमरीका की सुपरिचित प्रसारण संस्था VOA (Voice of America) को लिख कर पूछा तो वहां से उद्घोषिका रश्मि शुक्ला ने भी इसी वर्तनी के पक्ष में अपनी राय दी. मज़े की बात

यह कि इस पुस्तक के मेरे लेख जहां भी छपे, विद्वान सम्पादकगण ने मेरे लिखे 'अमरीका' को प्रायः 'अमेरिका' में तब्दील कर ही छापा. मैं इस पुस्तक में 'अमरीका' ही लिख रहा हूं.

इस पुस्तक के अनेक लेख जनसत्ता, मधुमती, समय माजरा, समयांतर, अनौपचारिका, लोक शिक्षक आदि में छप कर पाठकों तक पहुंच चुके हैं. इनके सम्पादकों के प्रति आभार.

तो जैसी भी है, किताब आपके हाथों में है.
कहना अनावश्यक है कि आपकी प्रतिक्रिया की मुझे प्रतीक्षा रहेगी.

1 जनवरी 2006
-- दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

परदेस में निकला चांद

राही मासूम रज़ा की पंक्तियां हैं : "हम तो हैं परदेस में, देस में निकला होगा चांद." जब आप देश में होते हैं तो आपका एक बडा सपना होता है कि विदेश जाएं, और जब विदेश पहुंच जाते हैं तो अपना देश कुछ ज़्यादा ही याद आने लगता है. देश की हर बात याद आने लगती है. पिछले दिनों हिन्दी की सुपरिचित लेखिका मृदुला गर्ग अमरीका आईं तो उन्हें यहां की बेहद-बेहद सफाई के बीच भारत की धूल-मिट्टी की याद बेचैन कर गई. अमरीका में, या किसी भी देश में रह रहे भारतीय भारतवासी भारतीयों से ज़्यादा भारतीय हो जाते हैं. परदेस में हो रहा हर भारतीय आयोजन उन्हें अपने देश के थोड़ा निकट ले जाने वाला अवसर बन जाता है.

ऐसा ही कुछ अनुभव हुआ मुझे सिएटल में 'जगजीत सिंह नाइट' में जाकर. अब यह कहना तो कोई माने नहीं रखता कि जगजीत मेरे पसन्दीदा गायक हैं. भारत में शायद ही कोई हो जिसे जगजीत की गायकी पसन्द न हो. इस मुकाम तक पहुंचने में जगजीत को कम से कम चालीस साल लगे हैं. चार दशकों की कड़ी मेहनत और इस दौरान अर्जित अनुभव उनकी गायकी और स्टेज प्रस्तुस्तियों में बहुत साफ परिलक्षित होते हैं.

जब हमारा अमरीका आने का कार्यक्रम बन रहा था तभी अमरीका में जगजीत नाइट का प्रचार शुरू हो गया था. बेटी चारु को जगजीत के प्रति हम दोनों की दीवानगी का पता है, इसलिये उसने हमारे लिये दो टिकिट तुरंत ही खरीद कर रख लिये. उसके प्रसव की सम्भावित तिथि भी वही थी जो इस कंसर्ट की थी, इसलिये यह तो तय ही था कि बेटी-दामाद इस शाम का लुत्फ नहीं ले पाएंगे.

अमरीका आने वाले हर भारतीय की तरह हम भी इस मर्ज़ के शिकार हैं कि हर डॉलरी अमरीकी मूल्य को भारतीय मुद्रा में तब्दील कर भारत की कीमत से तुलना कर, जैसी भी स्थिति हो, दुःखी, चकित, गर्वित होते हैं. इसलिये जब विमला के कई बार और कई तरह से पूछ्ने के बाद चारु ने बताया कि इस शो के एक टिकिट का मोल साठ डॉलर है, तो हमने मन ही मन सुना- तीन हज़ार रुपये, और किंचित दुखी हुए. कुछ माह पहले ही जगजीत को जयपुर में पांच सौ रुपये का 'महंगा' टिकिट खरीद कर सुन चुके थे. पर यह अमरीका है !

14 मई को चारु ने बेटी को जन्म दिया. हम लोग अस्पताल में ही थे, पर जाने कब उसने अपने साथी नरेश जैन से गुपचुप बातकर यह व्यवस्था कर दी कि नरेश इस साढ़े सात बजे वाले शो के लिये हमें लेने छः बजे अस्पताल आ पहुंचे. अब यहीं यह भी चर्चा कर दूं कि दुनिया कितनी छोटी और गोल है ! नरेश के दादाजी से सिरोही में मेरी अच्छी मित्रता रही है. मुकेश के स्वर्गीय पिताजी का भी नरेश के इस परिवार से गहरा अपनापा था. फिर संयोग यह बना कि राजस्थान की पूर्व-इंजीनियरिंग परीक्षा (पी ई टी) में उत्तीर्ण होने पर नरेश और चारु एक साथ ही सिरोही से उदयपुर काउंसिलिंग के लिये गये. पढे अवश्य अलग-अलग कॉलेजों में. और अब नरेश, मुकेश और चारु तीनों ही माइक्रोसॉफ्ट में काम करते हुए भारत का नाम रोशन कर रहे हैं. एक और संयोग यह भी कि नरेश का परिवार जयपुर में रहता है, हम भी. तो, इस नरेश के साथ अपने अस्पताल से कोई पचास किलोमीटर दूर मूर थिएटर के लिये रवाना हुए.

मूर थिएटर डाउनटाउन सिएटल में स्थित है. जब हम पहुंचे तो घडी ठीक साढे सात बजा रही थी. हॉल के बाहर का दृश्य देखकर भ्रम हुआ कि कहीं हम भारत में ही तो नहीं हैं. इतने सारे भारतीय एक साथ! ये भारत में इतने भारतीय नहीं होते. यहां अपने पहनावे में ये भारत की तुलना में ज़्यादा भारतीय थे. वहां ये लोग भले ही जीन्स वगैरह में होते, यहां ज़्यादातर लोग पारम्परिक भारतीय वेशभूषा, यानि साड़ी, सलवार सूट, कुर्ता पाजामा वगैरह में थे.

जो टिकिट हमारे पास थे उनमें बाकायदा यह अंकित था कि हमें आयल (Aisle) 3 से प्रवेश करना है और S कतार में हमारी सीट नम्बर 2 व 3 है. पर वहां तक पहुंचने के लिये खासी मशक़्क़त करनी पडी. थिएटर की लॉबी में इतनी भीड थी कि आगे बढ पाना ही मुश्क़िल था. लोगों के हाथों में प्लेटें थीं, प्लेटों में समोसे, छोले, टिक्की वगैरह और चारों तरफ थी भारतीय पकवानों की जानी पहचानी खुशबू.

हाल-चाल पूछे जा रहे थे, ठहाके लग रहे थे, चटखारे लिये जा रहे थे. ऐसा भारतपन भला रोज़-रोज़ कहां नसीब होता है! इस सात समुद्र पार के विलायत में बडी इंतज़ार के बाद यह शाम उतरी थी और इसने इस मूर थिएटर को एक मिनी हिन्दुस्तान में तब्दील कर दिया था. इस बहुत इन्फार्मल एट्टीट्यूड वाले देश में जैसा देस वैसा भेस बनाकर रह रहे भारतीय आज अपने पूरे रंग में थे. महिलाओं ने तो मानो अपने गहनों-कपडों की नुमाइश ही लगा दी थी.

हम जैसे-तैसे अपनी सीटों तक पहुंचे. थिएटर कुछ पुराना-सा था, ज़्यादा ही भव्य. वरना यहां के थिएटर (भारत की तुलना में) बहुत सादे होते हैं. जगजीत मंच पर आ चुके थे. प्रारम्भिक औपचारिकताएं भी शायद पूरी की जा चुकी थीं. बहुत हल्के-फुल्के अन्दाज़ में उन्होंने अपने साथी संगतकारों का परिचय कराया. हर कलाकार के लिये तालियां और सीटियां बजती रहीं, और इस सबके बीच ही जगजीत ने गाना शुरू कर दिया.

जगजीत की गायकी का क्या कहना ! उसके जादू का असर न हो, यह मुमकिन ही नहीं. वे एक के बाद एक ग़ज़ल सुनाते गये. कब डेढ़ घण्टा बीत गया, पता ही नहीं चला. पंद्रह-बीस मिनिट का मध्यांतर हुआ, लोग फिर खाने और मिलने-जुलने पर टूट पड़े. फिर काफी देर तक गाने के बीच लोगों का आना-जाना चलता रहा. जगजीत ने फिर डेढ़ घण्टा गाया, और अचानक शो समाप्त. जगजीत अक्सर ऐसा ही करते हैं.

यह कहने की कोई ज़रूरत नहीं कि जगजीत ने अच्छा गाया. यह भी कहने की ज़रूरत नहीं कि उन्होंने श्रोताओं के मूड के अनुरूप गाया. यहां जो श्रोता थे वे सब बहुत गम्भीर श्रोता नहीं थे. जगजीत खुद एम टीवी पर अपने एक इंटरव्यू में कह चुके हैं कि उनके कंसर्ट में कुछ श्रोता ऐसे होते हैं जिनका संगीत से कोई वास्ता नहीं होता. वे महज़ इसलिये होते हैं कि अगले दिन यह दिखावा कर सकें कि वे भी कल यहां थे! कुछ श्रोता प्रारम्भ से ही काफी 'उच्च अवस्था' को प्राप्त थे. थिएटर में भी एक बार (Bar) था. जो घर से उच्च अवस्था को प्राप्त होकर नहीं आये थे, उनमें से अनेक यहां उस अवस्था को प्राप्त हो गये. और जब आप उस महान अवस्था को प्राप्त हो चुके हों तो आपके लिये

'आहिस्ता-आहिस्ता' और 'मिट्टी दा बाबा' में कोई फर्क न रह जाये, यह स्वाभाविक ही है. 'मिट्टी दा बाबा' जगजीत की बहुत प्रिय रचना है. वे गाते भी इसे पूरे दर्द के साथ हैं. शायद उन्हें अपना विवेक ही याद आ जाता हो, इसे गाते वक़्त. इसलिये जब इस गीत पर भी लोग सीटियां, तालियां और चुटकियां बजाने लगे तो जगजीत यह याद दिलाये बगैर नहीं रह सके कि यह 'उस तरह' का गीत नहीं है! मेरी अगली क़तार में बैठे एक सज्जन हर गीत के खत्म होते न होते 'दरबारी' की फरमाईश कर रहे थे. बा-आवाज़े-बुलन्द. मज़े की बात यह कि जब जगजीत ने वाकई दरबारी गाना शुरू किया, तब भी वे मांग कर रहे थे - दरबारी! मेरे ठीक आगे एक युवक हर गीत पर जिस तरह अपना हाथ उठाकर अपने आह्लाद का प्रदर्शन कर रहा था उससे शुरू-शुरू में तो मुझे लगा कि यही उसका फेवरिट नगमा होगा, पर पंद्रह-बीस गीतों पर उसकी एक-सी प्रतिक्रिया देखकर मुझे उसकी जवानी पर ही ज़्यादा लाड़ आया. और, जवानी में समझ होती ही कहां है? मेरी दांयी तरफ से एक बुज़ुर्ग सज्जन कभी-कभी 'गालिब' की गुहार लगा देते थे. उनकी आवाज़ तो मंच तक नहीं पहुंची पर जगजीत ने उनकी शाम सार्थक ज़रूर कर दी. जगजीत गालिब को गा रहे थे, मैं उन सज्जन को देख फिराक़ को स्मरण कर रहा था-

आए थे हंसते खेलते मैखाने में फिराक़
जब पी चुके शराब, संजीदा हो गये !

जगजीत बहुत हल्के मूड में थे. श्रोताओं से चुहल करते जा रहे थे. साउंड सिस्टम पर खफा होने का उनका चिर-परिचित अन्दाज़ यहां भी बरक़रार था. एक शो-मैन के रूप में वे मंज चुके हैं. और इस मंज जाने की अपनी सीमाएं होती हैं जो यहां साफ दृष्टिगोचर थी. जगजीत ने वे ही सारी चीज़ें सुनाईं जो वे हर कंसर्ट में सुनाते हैं. नई और गम्भीर चीज़ें सुनाने की रिस्क क्यों ली जाये ? एक मुकाम पर आकर शीर्ष पर टिके रहने की चाह आपकी एक ऐसी मज़बूरी बन जाती है जो कुछ भी नया और बेहतर करने की आपकी प्रयोगशीलता को बाधित करती है. जगजीत ने अच्छा गाया, पर वे बेहतर गा सकते थे.

जो लोग इस कंसर्ट में आये, उनमें जगजीत की गायकी के प्रति अनुराग से ज़्यादा अपनी धरती की महक की ललक थी. तीन-चार घण्टों के लिये एक हिन्दुस्तान ही बन गया था वहां. अगर यह कहना अशिष्टतापूर्ण न लगे तो कहूं कि वही अस्तव्यस्तता, वही धक्का-मुक्की, वही गर्मजोशी, वही अपनापा, वही सब कुछ जो अपने देश में होता है !

दरअसल, यह भी परदेश में रहने की एक भावनात्मक ज़रूरत होती है. आप घर वालों से बातें कर सकते हैं, उनके समाचार पा सकते हैं, घर में हिन्दुस्तानी खाना खा सकते हैं पर आपके चारों तरफ तो अमरीका ही होता है ना , जो चाहे कितना ही अच्छा क्यों ना हो, अपना तो नहीं होता. इसी 'अपने' की तलाश, अपनी धरती का मोह भारतीयों को इस तरह के आयोजनों में खींच लाता है. यही कारण है कि यह शो बीस दिन पहले ही सोल्ड आउट (Sold out) हो चुका था. ऐसे में, किसने क्या गाया, और किसने क्या सुना, इसका कोई खास मतलब नहीं रह जाता. असल बात यह थी कि जगजीत के इस कंसर्ट के बहाने यहां इस सिएटल शहर में भी चन्द घण्टों के लिये वही चांद निकल आया था जिसे याद कर राही मासूम रज़ा उदास हुए थे.

इस चांद के तिलिस्म से बाहर निकले तो रात के साढे ग्यारह बज रहे थे. काफी सर्द रात थी पर मूर थिएटर के उस इलाके में हस्ब-मामूल चकाचौंध बरक़रार थी. बहुमंज़िला इमारतों, शानदार व्यावसायिक प्रतिष्ठानों और तेज़ भगती कारों की हेडलाइट्स की चौंध. बल्कि इससे भी कुछ ज़्यादा. सड़क पर बिखरी भारतीय सुन्दरियों के आभूषणों की, उनके चमचमाते झिलमिलाते वस्त्रों की और इन सबसे ज़्यादा अभी-अभी 'भारत से लौटकर आये' उनके प्रफुल्लित चेहरों की उल्लासपूर्ण आभा इस चमक को और बढा रही थी.

इस चकाचौंध के घेरे से बाहर निकल, कुछ दूर चले तो हमें और दिनों की बनिस्बत अमरीकी आकाश आज कुछ कम चमकदार लगा.

निकले हुए चांद को हम पीछे जो छोड़ आये थे !

****

हैप्पी बर्थ डे टू यू

चारु ने सुबह ही कह दिया था कि शाम को हमें दीपिका के यहां जाना है.

दीपिका और रजनीश (राज) इन लोगों के नज़दीकी दोस्तों में हैं. नज़दीकी कई तरह की है. घर एकदम पास है. पैदल कोई 3-4 मिनिट की दूरी पर. मुकेश और राज दोनों ही माइक्रोसॉफ्ट में हैं. दोनों, बल्कि चारों बेहद मिलनसार और खुशमिज़ाज़ हैं. पिछली बार, डेढ़ेक साल पहले जब हम लोग यहां आए थे, इन परिवारों में दोस्ती नहीं थी. लेकिन इस

बीच गंगा में बहुत सारा पानी बह चुका है. दोनों परिवार कई बार साथ बाहर जा चुके हैं, और अगर एक घर में कोई खास डिश बनती है तो दूसरे घर में उसके स्वाद की तारीफ होती ही है. दोनों परिवारों की नज़दीकी का एक आयाम यह भी है कि चारु और दीपिका की गर्भावस्था एक साथ आगे बढ रही है. दोनों की सम्भावित प्रसव तिथि एक ही है. अस्पताल एक है, डॉक्टर एक है. और जैसे इतना ही काफी न हो, गर्भकाल में मदद के लिये चारु के मां-बाप(यानि हम) आये हुए हैं तो दीपिका के भी मां-बाप आये हुए हैं. दोनों परिवार अग्रवाल हैं.

आज दीपिका का जन्म दिन है. प्रसवकाल निकट होने से यह संशय तो बना ही हुआ था कि शाम को दीपिका (या चारु, या दोनों) घर पर ही होंगी या प्रसूतिगृह में, पर फिर भी आयोजन कर ही लिया गया था.

मुकेश भी आज दफ्तर से जल्दी आ गये. सात बजे. रोज़ साढ़े आठ-नौ बजे तक आते हैं. जल्दी से नहा-धोकर तरोताज़ा हुए और हम चले राज के घर. पहले एक चक्कर निकट की दुकान का. चारु दीपिका के लिये कुछ लेना चाहती थी. राज ने साढ़े सात बजे बुला रखा था. इन दिनों अमरीका में सूर्यास्त बहुत देर से होता है - रात साढ़े नौ बजे के आस पास. साढ़े सात बजे तो ऐसा लग रहा था जैसा भारत में शाम चार बजे लगा करता है. पूरा, चमकता, उजास भरा दिन. जल्दी करते-करते भी हम थोडा लेट हो ही गये. राज के यहां पहुंचे तो घड़ी आठ बजा रही थी. बहुत बड़ा आयोजन नहीं था. कोई दस-बारह लोग थे. सभी सहकर्मी. सभी युवा. सभी भारतीय. यहां भारतीयों व अमरीकियों के सम्बंध काम-काज तक ही सीमित हैं. घर आने-जाने की आत्मीयता लगभग नहीं है. भारतीयों की अपनी एक अलग ही दुनिया है. सिएटल जैसे शहर में इस दुनिया का बना रहना सहज और सम्भव है भी. अकेले माइक्रोसॉफ्ट में ही लगभग चार-पांच हज़ार भारतीय हैं. कहीं भी जाएं - शॉपिंग माल में, पार्क में, रेस्टोरेण्ट में, आपको साड़ी,सलवार, चूड़ी ,बिन्दी के दर्शन हो ही जाएंगे.

तो हम भी जूते उतार कर भीतर पहुंचे. बता दूं कि यहां जूते अनिवार्यतः बाहर उतारे जाते हैं. सभी आ चुके थे. दो युवा माताएं और उनके पतिगण - अपने अपने शिशुओं में मगन. एक की संतान पिछली जून में हुई थी, एक की जुलाई में. चर्चा हुई कि मई में मां बनने वाली दो युवतियां (चारु व दीपिका) यहां हैं. इस तरह मई,जून,जुलाई,अगस्त में लगातार बर्थडे पार्टियां हुआ करेंगी. एक दोस्त इन लोगों की दो-तीन दिन बाद भारत से आने वाली हैं. उन्होंने अगस्त में शिशु को जन्म दिया था. उन्हें भी गिन लिया गया था. उनके पति पार्टी में थे. एक और दंपती थे. पत्नी गर्भवती थीं. दिखाई भी दे रहीं थी पर

उनका परिचय यह कहकर कराया गया कि वे प्रैग्नेण्ट हैं. यहां गर्भावस्था को गोपनीय नहीं माना जाता. उसके बारे में जितनी खुलकर और सहज भाव से उल्लासपूर्ण चर्चा होती है उसकी भारत में कल्पना भी नहीं की जा सकती. इस खुलेपन का एक बड़ा फायदा यह है कि स्त्रियां अपनी गर्भावस्था के बारे में, उसके कष्टों के बारे में और उन कष्टों से बचने के उपायों के बारे में सब कुछ जान जाती हैं. डॉक्टर भी बहुत खुलकर और विस्तार से बात करते हैं. नए माता-पिता के लिये बाकायदा सेमिनार्स/काउंसिलिंग सेशंस होते हैं और लोग पैसा खर्च कर उनका लाभ उठाते हैं. यह है जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण!

सभी से परिचय हुआ. रजनीश की बहन नयनतारा भी इसी सिएटल शहर में रहती है. वह भी आई हुई थी. दीपिका के माता-पिता और हम दोनों को छोड़कर शेष सभी आपस में बहुत अच्छी तरह घुले-मिले थे. पर असहज हम भी महसूस नहीं कर रहे थे. अमरीकी जीवन और आबो-हवा में कुछ ऐसी अनौपचारिक सहजता है कि आप प्रवाह से अछूते रह ही नहीं सकते. हंसी-मज़ाक के दौर पर दौर चल रहे थे. नयनतारा से कहा गया कि वह आजकल राज के यहां बहुत आती हैं. उसने भी मज़ाक का पूरा मज़ा लेते हुए जवाब दिया कि आजकल यहां अच्छे-अच्छे पकवान जो बनते हैं. इतना सुख कि न केवल खाओ, अगले दिन के लिये पैक करके भी ले जाओ.. मैं सोच रहा था, क्या भारत में इस तरह मज़ाक किया जा सकता है? और क्या यह भी बहुत स्वाभाविक होगा कि एक ही शहर में बहन-भाई अलग-अलग घरों में रहें? बड़े शहर की दूरियों और काम की व्यस्तताओं ने अस्वाभाविक को भी स्वाभाविक बना दिया है. जब भी फुरसत मिलती है, नयनतारा भाई के यहां आ जाती है. एमबीए किया है. किसी अच्छी कम्पनी में काम करती है. छोटी-सी,प्यारी-सी,गुडिया-सी लडकी. भारत में होती तो शायद मां कहीं अकेले जाने ही नहीं देती, लेकिन यहां सात समुद्र पार पूरे दमखम से शानदार ज़िन्दगी जी रही है. यह है आज की युवती.

यहां खाने की कुछ भिन्न परम्परा है.पहले अपेटाइज़र. पर भारत में इस से जो आशय होता है(सूप वगैरह) उससे थोड़ा अलग. यहां अपेटाइज़र का आशय खाद्य से होता है, बेशक उसके साथ पेय भी हो सकता है. हमें ब्रेड रोल और कांजी बड़ा दिया गया. यहां पेपर नैपकिन (जिसे ये लोग टिश्यू पेपर कहते हैं) का भरपूर उपयोग होता है. गिलास डिस्पोज़ेबल, पर इतने सुघड़ और सुन्दर कि चाहें तो अलमारी में सजा लें. टिश्यू भी कम गरिमापूर्ण नहीं.

हंसी-मज़ाक का दौर चल रहा था. हम फेमिली रूम में ही थे. फेमिली रूम यहां एक ऐसी जगह होती है जिसमें किचन भी शामिल होता है. ओपन किचन. किचन, एक बड़ी

टेबल, कुछ सोफे (जिन्हें ये लोग काउच बोलते हैं), कुछ कुर्सियां, स्टूल, टीवी, म्यूज़िक सिस्टम; यानि जहां बैठकर आप गपशप करते हुए, अनौपचारिक व सहज रूप से खा-पी सकें. टेबल पर केक लगा दिया गया था. दीपिका ने (जिन्हें डॉक्टर के अनुमान के लिहाज़ से इस समय अस्पताल में होना चाहिये था) केक काटा. सबने तालियां बजाईं, 'हैप्पी बर्थ डे टू यू' गाया.

राज और मुकेश ने पूछा कि मैं ड्रिंक में क्या लेना पसन्द करूंगा. राज के यहां बहुत समृद्ध बार है. मेरी पसन्द व्हिस्की थी. राज ने टीचर्स व्हिस्की की बॉटल निकाली. राकेश जी और उषा जी -दीपिका के माता पिता- लखनऊ में रहते हैं. ये गुप्ता दंपती भी हमारी ही तरह दूसरी बार अमरीका आये हैं. हम लोग यहां के जीवन के बारे में अपने अनुभव बांटना शुरू करते हैं. यहां की सुव्यवस्था, यहां की सफाई, यहां का सुगम नागरिक जीवन, वगैरह. इन लोगों ने कल 'धूप' फिल्म देखी थी और इनसे ही उसकी डीवीडी लेकर आज दोपहर हमने भी देख डाली. मेरे जेहन पर 'धूप' का कथानक छाया हुआ था. भारत में शायद यह फिल्म रिलीज़ ही नहीं हो पाई है, हालांकि इसका संगीत काफी चला है. मैं तो इस फिल्म से अभिभूत था. गुप्ता जी भी. कहानी भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार और निकम्मेपन से एक आदमी (ओम पुरी) की लड़ाई की है. इससे मुझे सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'लड़ाई' भी याद आती रही. हम दोनों यह चर्चा करते रहे कि क्यों भारत में ही ऐसा होता है, अमरीका में नहीं. यहां तो जिसे जो काम करना है, पूरे मन से करता है. भारत में तो जैसे वर्क कल्चर है ही नहीं. चर्चा हस्ब-मामूल सिस्टम पर आकर अटक जाती है. हम लोग अमरीका की, उसकी पूंजीवादी संस्कृति की, मनुष्य विरोधी आचरण की, सारी दुनिया पर अपनी चौधराहट लादने की खूब लानत मलामत करते हैं. पर इसी अमरीका का दूसरा पहलू भी है, यहां का साफ-सुथरा नागरिक जीवन. इसी को देखकर समझ में आता है कि क्यों अमरीका दुनिया के सबसे समृद्ध, शानदार और जीवंत देशों में गिना जाता है. हमारी चर्चा इससे फिसलकर आम जीवन पर आ जाती है. भारत में हम कपड़ों वगैरह की खूब चिंता करते हैं. यहां उनकी बिल्कुल भी चिंता नहीं की जाती. आप जो और जैसे चाहे पहन लें. निक्कर(घुटन्ना) और घिसा हुआ बनियान जैसा टी शर्ट पहन कर तो लोग नौकरी पर चले जाते हैं. इस आयोजन में भी कोई बना-ठना नहीं था. युवतियां भी नहीं. एक अपवाद दीपिका थीं. उन्हें होना भी था. पर वे भी उस तरह सजी-संवरी नहीं थीं जैसे अपने जन्म दिन पर भारत में होतीं. शेष सब तो नितांत काम चलाऊ कपड़ों में थे. अमरीका में कपड़ों का तो यह आलम है कि पिछली बार जब हम यहां आये तो मैं जो सूट टाई वगैरह लाया था, उन्हें उसी पैक्ड अवस्था में वापस ले गया. लगा कि सूट-टाई में अजूबा लगूंगा. यहां तो शॉर्ट, टी शर्ट, जींस यही चलता है. घर में

भी, दफ्तर में भी और पार्टी में भी. औपचारिक वेशभूषा तो बहुत ही कम अवसरों पर इस्तेमाल होती है.

हमारी गपशप के बीच ही पित्ज़ा भी आ गया. एक पेग खत्म हो गया, गुप्ता जी दूसरा बना लाये. उधर युवा समूह में (जिसमें श्रीमती गुप्ता और श्रीमती अग्रवाल भी थीं,बावज़ूद इसके कि उनका युवा होना सन्दिग्ध था) गपशप का उन्मुक्त दौर चल रहा था. स्त्रियों में सहज हो जाने का जन्मजात गुण होता ही है. आवाज़ों के टुकड़े हम तक भी आ रहे थे. दीपिका के पिता और मैं अपना अपना गिलास लेकर इस फेमिली रूम से सटे लिविंग रूम (जो हमारे ड्राइंग रूम के समकक्ष होता है) में जा बैठे. पूरी पार्टी में मदिरा प्रेमी हम दो ही थे. वहां से भी हमें इधर का सब कुछ दिखाई-सुनाई दे रहा था. बाद में घर आकर मैंने विमला से जाना कि सभी अपने-अपने बच्चों के जन्म का बिन्दास वर्णन कर रही थीं. विमला घर आकर भी 'हाय राम' मोड (Mode) में थी. यहां प्रसव के समय पति तो उपस्थित रहता ही है, अन्य परिवार जन भी रह सकते हैं. नयनतारा से कहा जा रहा था कि वह दीपिका के प्रसव की फोटोग्राफी करे और वह (बेचारी कुंवारी हिन्दुस्तानी लड़की) प्रसव का नाम सुनकर ही घबरा रही थी, और सब देवियां उसकी इस घबराहट का मज़ा ले रही थीं.
यहां कोई किसी से औपचारिकता नहीं बरतता. सब एक दूसरे को उसके नाम से पुकारते हैं. जी, साहब, बहनजी, भाभीजी का बोझ ये लोग भारत से यहां ढोकर नहीं लाये हैं. खाने पीने के मामले में कोई मनुहार नहीं है. यह बहुत आम है कि आप किसी के घर जाएं तो गृहस्वामी आपके खाना शुरू करने का इंतज़ार ही न करे. आपको खाना है, खाएं, न खाना है, न खाएं. अगर यह आस लगाई कि कोई दो बार आग्रह करेगा तभी खाएंगे, तो भूखे ही रह जाएंगे.

खाना खाकर झूठे बर्तन सिंक में साफ करना तथा डिश वाशर में लगाने के लिये तैयार कर देना यहां आम है. इससे गृह स्वामी/स्वामिनी को जो आसानी होती है, उसे देखकर ही समझा जा सकता है.

लोग एक एक करके विदा हो रहे थे. हम क्योंकि उनके विदा मार्ग में ही थे, सभी हमसे भी बाय-बाय करते जा रहे थे. ड्रिंक खत्म कर और पेट में स्वादिष्ट पित्ज़ा ठूंस कर (मैं तो ज़्यादा ही खा गया था!) हम लोग भीतर वाले लिविंग एरिया में आ गये. अब हम परिवारजन ही रह गये थे. राज-दीपिका, नयनतारा, मुकेश-चारु, और हम दोनों माता पिता युगल. थोड़ी देर सीक्वेंस खेला. पहली बार ही खेला पर मज़ा आया..

जब उठे तो ग्यारह बज रहे थे. इस प्रवास में हमारे लिये पहला अवसर था यह देखने समझने का कि एक भिन्न संस्कृति किस तरह आपको अपने अनुरूप ढालती है, और यदि आप विवेकशील हों तो किस तरह दोनों संस्कृतियों की अच्छाइयों को अपना लेते हैं!

.******************

ज़िंदगी, मेरे घर आना, ज़िंदगी ![i]

उर्फ

नई ज़िन्दगी का शानदार स्वागत !

यह हमारी दूसरी अमरीका यात्रा थी.

पहली बार 2002 के अक्टोबर में बेटी-दामाद के बुलावे पर अमरीका घूमने आए थे. अमरीका यात्रा के क्रम में सबसे मुश्क़िल होता है अमरीका का वीज़ा मिलना. उस वक़्त हमें बमुश्क़िल तीन महीने का वीज़ा मिल पाया, उसमें से भी एक महीना तो रिज़र्वेशन वगैरह मिलने में ही बीत गया. डेढ़ महीना यहां रहे, खूब घूमे-फिरे.

दो साल भी नहीं बीते कि फिर अमरीका आने का संयोग बन गया. बेटी गर्भवती थी. बेटी-दामाद ही नहीं, इनके परिवार वाले भी चाहते थे कि इस वक़्त हम लोग इनके साथ हों. हमें भी कोई खास दिक़्क़त नहीं थी. पिछली बार तो सरकारी नौकरी में था, ज्यादा छुट्टियां मिलना मुश्क़िल था. अब सेवानिवृत्त हो जाने से वह दिक़्क़त भी नहीं रही थी.

दिक़्क़त एक ही थी - वीज़ा मिलने की. अमरीकी वीज़ा मिलना इतना मुश्क़िल माना जाता है कि भारत के अखबारों में तो पेशेवर वीज़ा सलाहकारों के विज्ञापन छपते हैं, आपको इण्टरव्यू के लिये बाकायदा तैयार किया जाता है. लेकिन हमने तो सोच लिया था कि जो भी पूछा जाएगा, उसका सच-सच जवाब दे देंगे.

लेकिन चारु की सलाह कुछ अलग थी.

पत्नी का और मेरा खयाल था कि अमरीकी दूतावास में इण्टरव्यू में यह तो पूछा ही जायेगा कि हम इतनी जल्दी दुबारा अमरीका क्यों जाना चाहते हैं ? और हमारा सौ-टका सच जवाब होगा- "बेटी की गर्भावस्था में उसकी सहायता के लिये." लेकिन चारु ने

सलाह दी थी कि हम भूलकर भी यह जवाब न दें. चौंकने की बारी हमारी थी. सच को न बताने की वजह ? चारु ने समझाया कि यह उत्तर देने पर वीज़ा अधिकारी यह कहकर हमें निरुत्तर कर देंगे कि "इस कारण जाने की कोई ज़रूरत नहीं है, इस काम के लिये तो अमरीकी चिकित्सा सेवाएं ही पर्याप्त हैं." हमारा भारतीय मन इस बात को पचा नहीं पाया. आखिर कोई भी डॉक्टर, कोई भी अस्पताल- चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, मां-बाप या घर वालों का विकल्प कैसे हो सकता है. लेकिन फोन पर बहस मुमकिन नहीं थी…

क़िस्सा कोताह यह कि चारु की सलाह पर अमल किया, कहा हम सेवा निवृत्ति के बाद फुर्सत से अमरीका घूमना चाहते हैं, पिछली बार ज़्यादा छुट्टियां न मिल सकने के कारण ठीक से घूम नहीं पाए थे (और यह बात मिथ्या भी नहीं थी !)-- और दस साल का वीज़ा मिल गया, मल्टीपल एण्ट्री वाला. वीज़ा मिल जाने की प्रत्याशा में हवाई जहाज में टिकिट पहले ही ब्लाक करवा रखे थे, अत: उसमें कोई समय लगा नहीं, और 28 अप्रेल 2004 की दोपहर हम अमरीका की धरती पर, अपनी प्यारी बेटी और उससे भी प्यारे दामाद के सामने थे.

चारु ने जो कहा था, उसे देखने-समझने का मौका मिला कोई पंद्रह दिन बाद.

इस बीच टुकड़ों-टुकड़ों में अमरीका की चिकित्सा सुविधाओं के बारे में हमारा ज्ञानवर्धन होता रहा.

अमरीका में चिकित्सा सुविधा बहुत ज़्यादा महंगी है. इसके अपने कारण हैं, जिनकी चर्चा कभी अलग से करूंगा. लेकिन इस समाज ने महंगी चिकित्सा प्राप्त करने का भी एक तरीका तलाश लिया है, या बना लिया है. वह है मेडिकल इंश्योरेंस. यहां अधिकांश लोग अपना मेडिकल इंश्योरेंस कराते हैं और तब इलाज़ का व्यय भार इंश्योरेंस कम्पनी वहन करती है. इंश्योरेंस की कई प्लान्स हैं, बीमित राशि भी अलग-अलग होती है, इन्हें आप अपनी प्रीमियम चुकाने की हैसियत के अनुसार चुन लेते हैं. मुकेश और चारु दोनों क्योंकि माइक्रोसॉफ्ट में काम करते हैं, माइक्रोसॉफ्ट ही इन दोनों का प्रीमियम भरता है. इस लिहाज़ से माइक्रोसॉफ्ट कार्पोरेशन अमरीका के श्रे तम नियोक्ताओं में से है कि वह अपने कर्मचारियों को सर्वश्रे चिकित्सा बीमा का संरक्षण दिलाने का व्यय भार वहन करता है. मज़े की बात यह कि प्रसूति व्यय भी मेडिकल इंश्योरेंस से ही होता है. चारु की प्रसूति का सारा व्यय भार इनके मेडिकल इंश्योरेंस से ही वहन हुआ और उस

इंश्योरेंस का प्रीमियम इनके नियोक्ता ने चुकाया. (हमने बाद में जाना कि चारु के प्रसव पर कुल 14,000 डॉलर खर्च हुआ, यानि भारतीय मुद्रा में रु. 7 लाख.)

गर्भ धारण करते ही आपको किसी अस्पताल में पंजीयन करवा लेना होता है. यहां लगभग सब कुछ निजी क्षेत्र में है. चारु ने अपना पंजीयन एवरग्रीन अस्पताल में करवाया था. प्रसंगवश, यह बता दूं कि इस अस्पताल की गणना प्रसूति के लिहाज़ से अमरीका के दस श्रे अस्पतालों में की जाती है. बहुत नियमितता से चारु का चेक-अप होता रहा, दवाइयां मिलती रहीं. इसी दौरान चारु और मुकेश -भावी माता पिता- को उन सेमिनार्स को भी अटैण्ड करने का मौका मिला जिनमें गर्भ धारण, गर्भ विकास-उसकी प्रक्रिया, समस्याओं और सावधानियों का पूरा ज्ञान कराया गया और नवजात शिशु को पालने का बहुत सघन प्रशिक्षण दिया गया. इन लोगों से समय-समय पर हुई चर्चा से यह बात पता लगी कि जो बातें हम दादा-दादी बनकर तथा अब नाना-नानी बनने के कगार पर पहुंचकर भी नहीं जान पाये हैं वे सब बातें ये लोग वैज्ञानिक तौर पर जान-सीख चुके हैं. जब भी इनके दोस्त, जो कि स्वाभाविक रूप से इनके हम उम्र हैं, घर आते, बच्चों के बारे में ही चर्चा होती, और हम इनकी जानकारी की गहनता से चकित होते. कहना अनावश्यक है, यह सारा ज्ञान उन्ही प्रशिक्षणों की देन था जो भावी माता-पिता को अस्पताल में दिया जाता है. यहीं यह भी बता दूं कि इन में से अधिकांश प्रशिक्षण भारी फीस चुकाकर प्राप्त किये जाते हैं. और यह भी, कि यहां गोपनीयता जैसा कुछ भी नहीं होता. सब-कुछ बेबाक, दो टूक. निश्चय ही इस खुलेपन के अपने फायदे हैं, जिन्हें हम भारतीय ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं.

तेरह मई की शाम से चारु को प्रसव पीड़ा शुरू हो गई थी. हम दोनों चिंतित थे, लेकिन चारु और मुकेश अपने प्रशिक्षण की वजह से जानते थे कि नवजात के आगमन का क्षण अभी कितना दूर है. रात इन लोगों ने अपने डॉक्टर को फोन करके मशविरा किया. कहा गया कि सुबह अस्पताल आ जाएं.

रात जैसे-तैसे कटी. सुबह मुकेश चारु को लेकर अस्पताल चले गये और हम बेसब्री से उनके सन्देश की प्रतीक्षा करने लगे. कोई एक घंटे बाद मुकेश का फोन आया कि चारु को भर्ती कर लिया गया है और हम दोनों को लेने उनके मित्र राज, जो पास में ही रहते हैं, आ रहे हैं.

राज के साथ हम अस्पताल पहुंचे.

अमरीका में अस्पताल से यह हमारा पहला साक्षात्कार था. अगर हमने बाहर बोर्ड न पढ़ा होता तो यही समझते कि राज हमें किसी पाँच सितारा होटल में ले आये हैं. बहुत भव्य और एकदम साफ सुथरा. करीनेदार. ऑटोमेटिक दरवाज़ों को पार करते हुए, और जिन दरवाज़ों से आपको न गुज़रना हो, आपकी आहट से उनमें लगे सेंसर सक्रिय हो जाने से उनके भी खुलने बन्द हो जाने के खेल का आनन्द लेते हुए, कई साफ सुथरे, चमचमाते गलियारों से गुज़र कर हम उस कमरा नम्बर 2169 तक पहुंचे जहां हमारी बेटी अनेक हाई-टेक उपकरणों के बीच एक बड़े बेड पर लेटी थी. कमरे में एक छोटा फ्रिज, एक टीवी, एक वीसीडी-डीवीडी प्लेयर, एक म्यूज़िक सिस्टम, एक अतिरिक्त बेड, एक बाथरूम,जिसमें जाकुजी सुविधा तक थी, एक कम्प्यूटर वगैरह थे. यह पूरी सूची नहीं है, पर इससे वहां उपलब्ध सुविधाओं का अन्दाज़ लगाया जा सकता है. जिस बेड पर चारु लेटी थी उस पर कई तरह के स्विच थे जिनसे पलंग को ऊपर-नीचे किया जा सकता था, संगीत सुना, टीवी देखा जा सकता था, नर्स से बात की जा सकती थी या उसे बुलाया जा सकता था, वगैरह. कमरे के बाहर एक खुला-खुला बड़ा-सा प्रतीक्षालय था, जहां और एक टीवी था और थी कई सारी पत्रिकाएं. पास ही, यानि 5-6 कमरों के बीच एक साझा किचन जैसा कुछ था जहां एक माइक्रोवेव अवन, फ्रिज (जिसमें काफी माल भरा था), कॉफी के बड़े-बड़े थर्मस वगैरह थे. बहुत सारे पाउच थे जिनमें दूध, चीनी, नमक, मिर्च, कई तरह की चाय थी. इस किचन से कोई भी अपनी ज़रूरत के अनुसार सामग्री ले सकता था या अपने साथ लाई सामग्री यहां लाकर गरम कर सकता था. अस्पताल के प्रवेश द्वार के पास ही एक वेण्डिंग मशीन भी थी जिसमें सिक्के डाल कर कोल्ड ड्रिंक, चिप्स वगैरह खरीदे जा सकते थे. वहीं एक गिफ्ट शॉप भी थी जहां से गुलदस्ते और छोटे-मोटे उपहार खरीदे जा सकते थे. ज्यादा सही तो यह कहना होगा कि वहां अस्पताल में आने वालों के काम की हर चीज़ उपलब्ध थी.

चारु के कमरे में एक नर्स थी - जीना. बहुत ही सक्रिय, बहुत ही शालीन, अत्यधिक कर्मनिष्ठ. वह सारे मॉनीटर्स पर तो नज़र रख ही रही थी, साथ-साथ अस्पताल के तंत्र से जुड़े कम्प्यूटर पर सूचनाओं का प्रेषण भी करती जा रही थी. और इतना ही नहीं, चारु की हर ज़रूरत पूरी करते हुए उसकी विभिन्न जिज्ञासाओं का समाधान भी करती जा रही थी. पूरे दिन में दो-एक बार उसे बाहर जाना पड़ा तो अपनी जगह किसी और को बिठा कर ही गई. जो भी नई नर्स आती, मुस्कराकर हाय/हैलो करती, अपना नाम बताती और ऐसी तत्परता से अपने काम में लग जाती मानो कई दिनों से यहीं, इसी कमरे में काम कर रही हो. इनको देखकर जी चाहता था शब्दकोष से कामचोरी शब्द को मिटा ही दिया जाए.

हमारे लिये उस दिन खाना राज और दीपिका अपने घर से बनाकर ले आये थे. (बाद में भी मुकेश-चारु के कोई न कोई मित्र ही अपने घर से हम सबके लिये खाना-नाश्ता लाते रहे. न केवल अस्पताल में, बल्कि घर पहुंचकर भी हम दो दिन मित्रों के घर से आया भोजन ही करते रहे.) दीपिका का प्रसव भी इसी अस्पताल में होना था और डॉक्टर भी उसने वे ही चुने थे जो चारु ने चुने थे. यहां मरीज़ को हक़ है कि वह अपना डॉक्टर चुने. प्रसव की सम्भावित तिथि भी एक ही थी. मज़ाक चलता रहता था कि दीपिका भी भर्ती हो जाएं तो हम एक साथ ही दो शिशुओं को लेकर घर जाएं. चारु-मुकेश तथा राज-दीपिका को देखकर दोस्ती के नये रंगों की खुशबू का एहसास हुआ.

चारु के परीक्षण बराबर चल रहे थे. डॉक्टर चिंतित थे कि शिशु के आगमन की प्रक्रिया उनकी आशा के अनुरूप त्वरित नहीं है. उन्होंने प्रक्रिया को गति देने के प्रयास करने के साथ ही चारु की रीढ में एक इंजेक्शन (epidural) भी लगा दिया ताकि प्रसव वेदना कम से कम महसूस हो.

काफी प्रयत्नों और प्रतीक्षा के बाद अंततः शाम कोई साढ़े चार बजे डॉक्टरों ने यह निर्णय लिया कि सीज़ेरियन करके बच्चे को दुनिया में लाया जाय. अगर यह नॉर्मल डिलीवरी होती तो बच्चा उसी कमरे में दुनिया के पहले दर्शन करता जिसमें चारु अब तक थी. पर सीज़ेरियन के लिये चारु को ऑपरेशन थिएटर में ले जाया जाना था.

यहां दंपती को पहले से ही एक फॉर्म भरकर यह बता देना होता है कि प्रसव के वक़्त कौन-कौन व्यक्ति उपस्थित रहेगा. ऐन प्रसव के वक़्त पति तो उपस्थित रहता ही है, परिवार या निकट के और भी जितने लोग चाहें उपस्थित रह सकते हैं. मुकेश ने खुद के अलावा विमला का नाम दे दिया था. हमारी चारु को लगभग अर्द्ध बेहोशी में स्ट्रेचर पर लिटाकर ऑपरेशन थिएटर की तरफ ले जाया गया. मुकेश, विमला और मैं साथ थे. चारु ने थोड़ी-सी आंख खोली तो मैंने आंखों ही आंखों में उसे आशीर्वाद दिया, उसका हाथ हौले-से दबाया, और वे लोग मुझे बाहर छोड़ भारी दरवाज़ों के भीतर ऑपरेशन थिएटर में घुस गये.

अब मैं था और था लम्बा गलियारा. सामने भारी दरवाज़ा. उसके पीछे शायद और दरवाज़ा, फिर कुछ और . . .और शायद तब एक टेबल पर लेटी मेरी बेटी. . . . . .

गलियारे में कभी-कभार कोई गुज़रता. अगर दृष्टि-सम्पर्क होता, हाय/हैलो हो जाती. आम अमरीकी को किसी भी अजनबी को देखकर मुस्कुराने व उसका अभिवादन करने में ज़रा

भी संकोच नहीं होता. आत्मीयता का यह अकुण्ठित विस्तार अच्छा लगता है. ज़्यादातर अमरीकियों के हाथ में कोक का कैन या कॉफी का ढक्कनदार गिलास ज़रूर होता. किसी-किसी के साथ गोरे-गोलमटोल-गदबदे बबुए जैसे शिशु भी. या कि उछलते-कूदते बच्चे. समय बीतता जा रहा था, परंतु उसकी गति जैसे धीमी हो गई थी. अन्दर न जाने क्या चल रहा होगा? कैसी होगी हमारी बेटी ? कभी दरवाज़ा खुलने की आहट होती तो मन चौकन्ना हो जाता. अन्दर से बाहर कम आ रहे थे, बाहर से अन्दर ही थोड़ी-थोड़ी देर में कोई न कोई जा रहा था. शायद दसेक लोग तो भीतर जा चुके होंगे. कहीं कोई गम्भीर संकट तो नहीं? अपना ध्यान बंटाने को बाहर ताकने लगता हूं. गलियारे के छोर तक दो चक्कर पहले ही लगा चुका हूं. बाहर साफ-सुथरा मैदान है. दूर-दूर तक फैली हरियाली और उस पर उतरती शाम की मुलायम धूप. ऐसी ही धूप के लिये तो धर्मवीर भारती ने कहा होगा- 'जॉर्जट के पीले पल्ले-सी धूप'. दूर कहीं से आते संगीत के स्वर मानो हौले-से मुझे सहला जाते हैं, आश्वस्त कर जाते हैं. कहां से आ रहे होंगे ये स्वर? चारों तरफ तो शीशे जड़े हैं! पूरा भवन वातानुकूलित है. बाहर की कोई आवाज़ तो अन्दर आ ही नहीं सकती. फिर यह स्वर-लहरी? अपना ध्यान केंद्रित करता हूं. अच्छा ! तो यह बात है. पूरे ही भवन में म्यूज़िक सिस्टम लगा है. बहुत हल्की, थपथपाती-सी स्वर लहरी उसी से प्रवाहित होती रहती है. इतनी हल्की, मानों हो ही ना. संगीत का प्रभाव यहां महसूस होता है. उद्वेलित मन को शांति मिल रही है. पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत जैसा कुछ है. मैंने देखा है कि यहां ये लोग अपनी विरासत का बहुत खूबसूरत (वाणिज्यिक) उपयोग करते हैं. गर्भवती मां के सुनने के लिये मोत्ज़ार्ट, बाख, बीथोवेन आदि के संगीत की सीडी यहां आम है. यह प्रचारित करते हुए इन्हें बेचा जाता है कि इससे गर्भस्थ शिशु के मानसिक विकास को गति मिलती है. चारु के यहां ऐसी सीडी देखकर मुझे बहुत अच्छा लगा. मन में यह विचार भी आया कि पण्डित रविशंकर, शिव कुमार शर्मा, उस्ताद अली अकबर खां, हरि प्रसाद चौरसिया आदि के संगीत का भी तो यही प्रभाव होता होगा - अगर होता हो. असल बात तो मार्केटिंग की है, पर सच कहूं, इस मार्केटिंग से मुझे खुशी हुई. बाद में मैंने यह भी पाया कि नवजात शिशु के जो खिलौने हैं उनमें भी मोत्ज़ार्ट, बीथोवेन, बाख वगैरह के संगीत का उपयोग किया जाता है. अस्पताल में जो संगीत बज रहा था, वह चाहे जिसकी रचना हो, था बहुत प्रभावशाली. अगर भारतीय संगीत होता तो मैं उसे पहचान भी लेता.

तभी दरवाज़ा खुलने की आवाज़ हुई.

दो आकृतियां. शायद एक पुरुष, एक महिला. शायद इसलिये कि दोनों ने अस्पताल के हरे चोगों में अपने को पूरी तरह आवृत्त कर रखा है. "पापाजी" - अरे यह तो मुकेश की आवाज़ है. "कांग्रेच्युलेशंस, इट्स अ डॉटर !" एक स्त्री स्वर. मुकेश के हाथ में वीडियो कैमकॉर्डर है, डॉक्टरनी के हाथ में मेरी सद्यजात नातिन. मेरा गला रूंध-सा जाता है. डॉक्टर को धन्यवाद देता हूं पर इतने अस्पष्ट स्वर में कि शायद उन्हें सुनाई भी न पड़ा हो. सुनाई पड़ा भी होगा तो समझ नहीं आया होगा. वे लोग गलियारे के दूसरे छोर पर चले गये हैं. क्या यह सपना था? या वाकई हम नाना-नानी बन गये हैं! कुछ और चहल-पहल होती है. ऑपरेशन थिएटर से कुछ और लोग निकलते हैं. और फिर स्ट्रेचर पर मेरी लाड़ली चारु. नीम बेहोशी में. साथ-साथ विमला, जिसे हरे चोगे में पहचानने में थोड़ा ज़ोर लगाना पडा. आवाज़ पहले पहचानी, आकृति बाद में. चारु को होश नहीं है. विमला मुझे आश्वस्त करती है कि सब कुछ ठीक से हो गया है. मैं भी उनके पीछे-पीछे हो लेता हूँ. चारु को फिर से उसके कमरे में ले आया गया है.

शाम 6.02 बजे हमारी नातिन ने इस दुनिया में अपनी आंखें खोली हैं. मैं मन ही मन प्रार्थना करता हूं. भगवान इसे लम्बी उम्र देना और देना वह शक्ति कि यह अपनी दुनिया को और बेहतर बना सके. याद आने लगता है कि अपने छोटे-से शहर सिरोही में हमें लोग चारु के मां-बाप के रूप में भी जानने लगे थे. यह नई पहचान हमें अपनी बेटी की मेधा के कारण मिली थी. आज वही छोटी-सी चारु जो सात समुद्र पार आकर शान से अपनी गृहस्थी चला रही है, खुद एक बेटी की मां बन गयी है. सिरोही जैसे छोटे शहर में रहकर, सरकारी स्कूलों में पढ़कर, सॉफ्टवेयर इंजीनियर बनकर अपना और हम सबका नाम रोशन करने वाली चारु की बेटी भी इसी तरह उसका और हम सबका नाम रोशन करे - इसके सिवा और कोई भाव मन में नहीं उभरता.

चारु विमला, नर्स और डॉक्टर के साथ कमरे में ले जाई गई. थोड़ी देर में नए, गर्वित, आह्लादित पिता मुकेश भी अपनी नई-नवेली बेटी के साथ कमरे में आ गए. विमला ने दरवाज़ा खोल मुझे पुकारा- "चारु आपको बुला रही है!" भीतर गया तो चारु ने बहुत हल्के-से अपना हाथ बढ़ाकर लगभग रुंधे स्वर में कहा, " पापा, आप नाना बन गये!" नहीं याद कि मैंने जवाब में क्या कहा. कुछ कहा भी या नहीं ? न भी कहा हो तो क्या हर्ज़? मन में तो थीं मौन प्रार्थनाएं. आंखों में थे आंसू. खुशी के आंसू. शायद जीवन में ऐसे आंसू कभी नहीं आये. मां-बाप के लिये बच्चे कभी बड़े नहीं होते. चारु मेरे लिये अभी भी 'मुन्नू' ही है. लेकिन अब चारु मां है. उसके पास ही झूले में लेटी है उसकी बेटी. सामने दर्पण पर एक खूबसूरत चार्ट लगा है जिस पर दो कालमों में तीन-तीन खाने बने

हैं. पहले कालम में मां, पिता और शिशु के नाम, दूसरे में अस्पताल के ऑन ड्यूटी स्टाफ के नाम. चारु, मुकेश के नीचे तीसरा नाम लिख दिया गया है- नव्या !

थोडी देर में डॉक्टर आती हैं, शायद चीनी हैं. फिर से हमें मुबारकबाद देती हैं. फिर नर्स नवजात शिशु को नहलाने की तैयारी करती है, पहले बहुत सावधानी से पानी का तापमान जांचती है, फिर कुछ रसायनों से (शायद शैम्पू हो, या कुछ और) वहीं कमरे में लगे वाश बेसिन में बिटिया की बिटिया नव्या को नहलाती है. मुकेश फोटोग्राफी में व्यस्त हैं. यहाँ बड़ी दिलचस्प बात यह है कि अस्पताल वाले फोटोग्राफी के लिये मना नहीं करते, कुछ-कुछ प्रोत्साहित भी करते हैं. नव्या भाग्यशाली है कि बड़ी होकर वह दुनिया में अपने आगमन का पूरा वृत्तांत देख पायेगी. वह यह भी देखेगी कि जब वह दुनिया में आ रही थी, उसके पिता कितने आह्लादित थे और मां ने उसे दुनिया में लाने के लिये कितनी पीड़ा सही थी. निश्चय ही ये छवियां उसे अपने मां-बाप के प्रति अधिक संलग्नता का अनुभव करायेगी. इस बीच मुकेश ने नहा-धोकर पालने में लेटी अपनी लाड़ली के साथ हमारे फोटो खींचे हैं. कुछ फोटो मैंने भी लिये हैं. मैं बाहर जाकर कॉफी ले आया हूं.

मुकेश उसी कमरे से सेलफोन से सबसे पहले अपने गांव वराड़ा अपनी मां को यह शुभ समाचार देते हैं, फिर मुम्बई अपने बड़े भाई को. फिर मैं सूरत फोन कर (अपने बेटे) विश्वास को यह सुसमाचार देता हूं कि वह मामा बन गया है.

मुकेश ने फोन कर दिया था. राज आ गये हैं. हाथ में फूलों की खूब बड़ी डलिया और उससे बंधा गैस का आकर्षक गुब्बारा जिस पर लिखा है- कॉंग्रेच्युलेशंस! चारु भी बीच-बीच में आंखें खोल लेती है. थोडी देर में नव्या भी अपनी उपस्थिति का एहसास कराने लगती है. चारु को जैसे-जैसे होश आता जा रहा है, उसकी वेदना (शल्य-क्रिया जनित) बढ़ती जा रही है.

डॉक्टर बार-बार आकर मां-बेटी को सम्भाल रही है. नर्स तो वहां अनवरत सेवा में है ही.

अब जाकर मुझे समझ में आया है कि क्यों अमरीकी वीज़ा अधिकारी के सामने यह कहना बेमानी होता कि हम अपनी बेटी के प्रसव के लिये अमरीका जाना चाहते हैं. यहां हमारे लिये करने को था ही क्या ? जो कुछ करना था, बल्कि ज्यादा सही तो यह कहना होगा कि जो कुछ भी किया जा सकता था, उसके लिये तो अस्पताल ज़रूरत से ज़्यादा तत्पर और मुस्तैद था, और है.

अमरीकी समाज मनुष्य जीवन को कितना कीमती मानता है, इस बात को यहां की चिकित्सा व्यवस्था को देखे बगैर समझा ही नहीं जा सकता.

पूरे गर्भकाल में समय समय पर चारु की जांच की गई, उसे परामर्श और यथावश्यकता दवाइयां दी गईं. यहां ज़्यादा दवाइयों में विश्वास नही किया जाता. जब तक बिना दवा के काम चल सकता है, चलाया जाता है, उसके बाद कम से कम दवा से इलाज़ की कोशिश रहती है. न केवल चारु को, मुकेश को भी नए शिशु के आगमन के बारे में सब कुछ समझा-बता कर उन्हें उनकी नई ज़िम्मेदारियों का वहन करने के लिये तैयार कर दिया गया था.

यह सब तो हमने केवल सुना.

लेकिन अस्पताल में रहकर जो देखा वह हमें अभिभूत करने के लिये पर्याप्त था. डॉक्टर हो या नर्स, अपनी ज़िम्मेदारी के निर्वाह के लिये सौ नहीं बल्कि एक सौ दस प्रतिशत प्रस्तुत. अपने काम में पूरे तरह दक्ष. व्यवहार में नितांत शिष्ट, शालीन और विनम्र. दरअसल यहाँ कुछ भी चांस पर नहीं छोडा जाता. मां और नवजात शिशु के सारे परीक्षण, सारे सुरक्षा कवच, सारे रक्षा प्रयास. यही कारण है प्रसव के दौरान कुछ भी अप्रिय घटित होना यहां कल्पना से बाहर ही है. अगर सामान्य प्रसव हो, दस बारह घण्टे में अस्पताल से छुट्टी. चारु का क्योंकि सीज़ेरियन था, उसे 72 घण्टे अस्पताल में रखा गया.

एक स्वस्थ समाज में नई ज़िन्दगी के आगमन का उत्सव कितना ज़िम्मेदारी भरा और शानदार होता है, यह देखने का मौका हमें हमारे चारु-मुकेश ने दिया. बल्कि कहूं, हमारी नव्या ने दिया.

सब कुछ अपनी आंखों देखकर लगा कि अगर अमरीकी वीज़ा अधिकारी प्रसव के समय किसी परिवारजन के उपस्थित होने की ज़रूरत महसूस नहीं करते तो इसमें गलत क्या है? इतनी उम्दा, प्रोफेशनल और कर्टियस चिकित्सा सेवा, कि आप उस पर भरोसा कर चैन की नींद सो सकें, केवल सराहनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है. अस्पताल में गन्दगी का नामो-निशान नहीं, कहीं कोई अव्यवस्था नहीं, कोई चीख-पुकार नहीं, शोर शराबा नहीं, झगड़ा-बहस नहीं कि यह मेरा नहीं अमुक का काम है, मैं क्यों करूं. मुझे तो बार-बार अपने मित्र सुप्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश की कहानी 'अगले जनम' की याद आती रही. जिन्होंने भारतीय अस्पतालों में प्रसव की बेहूदा स्थितियां खुद नहीं देखी-भोगी हैं, उन्हें यह कहानी ज़रूर पढनी चाहिये. प्रसूता से नर्सें कैसी बेहूदा बातें करती हैं, गन्दगी का क्या

आलम होता है, वगैरह. हालांकि कहानी का असल मक़सद कुछ और है. लगे हाथ उसकी भी चर्चा कर ही दूं. भारतीय समाज में सारी शिक्षा, सारी प्रगति, तमाम आधुनिकता के बाद भी अभी भी लड़की का जन्म उल्लास का नहीं, अवसाद का ही प्रसंग होता है. बड़े-बूढ़े तो ठीक, नौजवान पीढ़ी के लोग भी पुत्री जन्म पर "चलो लक्ष्मी आई है" कहकर सांत्वना ही देते हैं. लड़के और लड़की की बराबरी की बात केवल मंचों और किताबों तक ही सीमित है. बदलाव आ रहा है, पर इतना धीरे कि लगता है जैसे कुछ भी नहीं बदल रहा है. पाश्चात्य समाज में ऐसा नहीं है. महत्व लड़का या लड़की को नहीं, मां और संतान की सुरक्षा को दिया जाता है. लड़की का पैदा होना भी उतना ही महत्वपूर्ण और आनंददायी होता है, जितना पुत्र जन्म. यहां अमरीका में रह रहे भारतीयों ने भी इस देश से यह सीख लिया है. यह संयोग ही था कि इन दिनों चारु-मुकेश के कई दोस्त परिवारों में नए शिशु की किलकारियां गूंजी. यह भी संयोग ही था कि सभी नवजात लड़कियां ही थीं. सभी के यहां भरपूर खुशी और उल्लास का माहौल. मुझे कहीं भी, लेशमात्र भी उदासी या अवसाद, ढूंढे से भी न मिला, और इससे मुझे बेहद खुशी हुई. इस बात की, कि चलो इन्होंने पश्चिम की एक अच्छाई को आत्मसात किया.

हम अमरीकियों से और कुछ सीखें न सीखें, उनकी जीवन पद्धति और राजनीतिक सोच पर चाहे जितनी बहस कर लें, मनुष्य जीवन को वे जितना महत्वपूर्ण मानते हैं और गरिमा प्रदान करते हैं, वह तो अनुकरणीय है. मैं तो उनका मुरीद हो गया हूं.

अगर हमें वीज़ा न मिलता और इस मौके पर न आ पाये होते तब भी हमारी बेटी इसी आश्वस्ति और सुरक्षा के साथ मां बनती. उसे कोई खतरा तब भी नहीं होता. हां, इतना ज़रूर होता कि हम अमरीकी व्यवस्था के एक उजले, और फिर कहूं - अनुकरणीय पहलू को अपनी आंखों नहीं देख पाये होते.

बेटी चारु ने हमें अमरीका देखने का मौका दिया, उसकी बेटी (नव्या) ने इस अमरीका का एक बहुत प्यारा क्लोज़ अप दिखाया.

धन्यवाद नव्या !

पुनश्चः कुछ ही दिनों बाद हमारे घर डाक से एक छोटा-सा पैकेट आया. उस डॉक्टर की तरफ से जिसने चारु का प्रसव करवाया था. पैकेट में सिरेमिक का एक छोटा-सा, बहुत खूबसूरत जूता था जिस पर मुकेश, चारु, नव्या और उस डॉक्टर के नाम अंकित थे तथा अंकित थी नव्या के इस दुनिया में पदार्पण की तिथि. डॉक्टर की ओर से यह स्मृति चिह्न पाकर हम सब को बहुत खुशी हुई. व्यावसायिकता को कलात्मक आत्मीयता का रूप देने का यह अन्दाज़ बहुत प्यारा था.

****

[i] गुलज़ार रचित एक गीत की प्रथम पंक्ति.

खूबसूरती का कारोबार

अमरीका की आज की किशोर पीढ़ी एक दशक पहले की किशोर पीढ़ी से कई मामलों में बहुत अलग है. आज की यह पीढ़ी इस बात को लेकर बहुत सजग है कि जो कपड़े उसने पहने हैं उनके लेबल बहुत महंगे हों. यहीं यह कह देना ज़रूरी है कि इन महंगे कपड़ों का खर्च इनके मां-बाप नहीं, ये खुद वहन करते हैं. यानि महंगे कपड़े खरीदने के लिये अगर सप्ताह में पंद्रह बीस घण्टे किसी बेकरी में काम करना पड़े तो भी कोई हर्ज़ नहीं.

किशोर वय की लड़कियां आज जिस बात को लेकर सबसे ज़्यादा चिंतित हैं, कपड़ों से भी ज़्यादा, वह है उनके वक्ष का आकार. पंद्रह-सोलह वर्ष की वय से ही ये लड़कियां विशाल वक्ष का सपना पालने लगती हैं. इस सपने को साकार करने के लिये ये शल्य-चिकित्सकों के सतत सम्पर्क में रहती हैं, पैसा बचाती-जमा करती हैं और चाहती हैं कि कॉलेज जाएं तो विशाल वक्ष के साथ ही जाएं.

आंकड़े बताते हैं कि 2000 से 2001 के एक वर्ष में ही अठारह वर्ष से कम उम्र की लड़कियों में यह वक्ष शल्यक्रिया का आंकड़ा 65,231 से बढकर 79,501 हो गया, यानि 21.8% का उछाल! अमरीकन सोसाइटी ऑफ प्लास्टिक सर्जंस(ASPS) के एक बयान के अनुसार वर्ष 2000 में 18 वर्ष तक के युवाओं में हुई शल्यक्रियाओं में यह वक्ष-विशालन की शल्यक्रिया तीसरी सबसे लोकप्रिय शल्यक्रिया थी. इस एक वर्ष में 3682 युवतियों ने अपने वक्ष बड़े करवाये. इसी एक वर्ष के अन्य सौन्दर्य विषयक आंकड़े भी देख लीजिये :

29,700 किशोरों ने नाक का आकार ठीक करवाया,
23,000 किशोरों ने कानों का आकार ठीक करवाया,
95,097 किशोरों ने अपनी त्वचा को छिलवाया (Peeled),
74,154 किशोरों ने चेहरे की त्वचा को ठीक करवाया, और
45,264 किशोरों ने लेज़र पद्धति से बाल हटवाये.

जहां तक वक्ष शल्यक्रिया का प्रश्न है, यहीं यह उल्लेख कर देना भी ज़रूरी है कि यद्यपि अमरीका का फूड एण्ड ड्रग एडमिनिस्ट्रेशन (FDA) 18 वर्ष से अधिक की स्त्रियों को ही यह शल्यक्रिया करवाने की अनुमति देता है, इससे कम वय की किशोरियों को भी (अलबत्ता गैर-कानूनी तरीके से) यह काम करवाने में कोई बडी दिक्कत दरपेश नहीं आती.

किशोरों में अपनी काया को संवारने (यदि इसे संवारना कहना अनुचित न हो) के प्रति यह उन्माद बढता ही जा रहा है. 1994 में जहां वक्ष का आकार बढवाने वाली किशोरियों की संख्या महज़ 392 और चर्बी सोखवाकर(Liposuction) दुबला होने वाली की संख्या 511 थी, 2001 में ये संख्याएं बढकर क्रमशः 2596 तथा 2755 हो गईं.यानि 562 % की वृद्धि. यह जानकारी देने वाले अमरीकन सोसाइटी ऑफ प्लास्टिक सर्जंस (ASPS) के अनुसार सभी वय के लोगों में वक्ष बड़े करवाने तथा लिपोसक्शन द्वारा दुबला होने की दर में 1992 से 2000 के बीच क्रमशः 386 तथा 476% की वृद्धि हुई है.

शल्यक्रिया से अपने वक्ष का आकार बडा करवाने, आंखों का आकार ठीक करवाने, ठुड्डी की आकृति बदलवाने, नाक सीधी करवाने या कानों को थोडा पीछे करवाने जैसी बातों को लेकर इन किशोरियों के मन में लज्जा या संकोच का कोई भाव नहीं है. हां उनकी चिंता यह अवश्य है कि उनके वरिष्ठजन उनके इस बदलाव का नोटिस न लें. वरिष्ठजन से आशय कॉलेज के सीनियर्स से है. और इसलिये ये लोग ऐसा समय चुनने पर विशेष ध्यान देती हैं. आदर्श समय माना जाता है स्कूली पढ़ाई पूरी होने और कॉलेज शुरू होने के बीच का अंतराल.

मैनहट्टन के एक मुखाकृति प्लास्टिक सर्जन फिलिप मिलर का कहना है कि उनके पास आने वालों में 30% वे लड़कियां होती हैं जो अपनी नाक छोटी या मुंह बड़ा करवाना चाहती हैं. ये लोग फैशन पत्रिकाओं में छपी मॉडल्स या सिने तारिकाओं की तस्वीरें दिखाकर उन जैसा बना देने का अनुरोध करती हैं.

वस्तुतः युवा पीढी का यह मानसिक झान उस बाज़ार की देन है जो आकर्षक, रंग-बिरंगी, प्रभावी तस्वीरों से अपना माल बेचने के क्रम में युवाओं के सामने एक आदर्श छवि खडी कर देता है. बाज़ार द्वारा सृजित यह दबाव इतना गहरा और घना होता है कि इन युवाओं को उन रोल मॉडल्स से भिन्न कुछ भी बिलकुल बेकार लगने लगता है.

अमरीका में ब्रेस्ट इम्प्लाण्ट सस्ता नहीं है. लगभग 7000 डॉलर. यानि भारतीय मुद्रा में साढे तीन लाख रूपये. और, फिर याद दिला दूं कि यह धनराशि प्रायः इन युवाओं की अपनी मेहनत की कमाई होती है. पर जैसा मैंने कहा, बाज़ार जो आदर्श रच देता है, उसके निकट पहुंचने के लिये कोई भी कीमत ज़्यादा नहीं लगती. विज्ञापनों का मोहक संसार आपके चारों तरफ सर्वांगपूर्ण मॉडल्स का एक ऐसा संसार खडा कर देता है कि आपको

अपनी देह की कोई छोटी-सी विकृति (?) भी अखरने लगती है और आप उसे दुरुस्त कराने के लिये बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को बेताब हो उठते हैं.

और मामला जब बड़ी कीमत का हो तो कई तरह के खेलों का चालू हो जाना आश्चर्यजनक नहीं. किशोरियां मॉडल्स को देखकर आकृष्ट होती हैं. उनके इस आकर्षण को हवा देने का काम वे जन-सम्पर्क एजेंसियां करती हैं जिनकी सेवाएं महंगे दामों पर प्लस्टिक सर्जन लोग खरीदते हैं. ये एजेंसियां फैशन तथा सौन्दर्य पत्रिकाओं में इस तरह की सौन्दर्यात्मक(Cosmetic)प्लास्टिक सर्जरी की कथाएं छपवाती हैं. न केवल फैशन पत्रिकाओं में बल्कि समाचार पत्रों में भी विशाल वक्ष विषयक लेख छपवाकर इनके पक्ष में माहौल बनाया जाता है. अब इण्टरनेट के लोकप्रिय हो जाने के बाद तो इन प्लास्टिक सर्जन्स ने अपनी वेबसाइटस के माध्यम से भी किशोरियों-युवतियों को लुभाना शुरू कर दिया है. कुछ सर्जन यह काम अधिक सूक्ष्म तरीके से भी करते हैं. वे सौन्दर्याकांक्षा को आत्मविश्वास से जोड़ देते हैं. आपके कम आत्मविश्वास की वजह आपकी नाक, कान या छाती के आकार को बताकर आपको अपने क्लिनिक की तरफ खींचते हैं.

सुन्दर दीखने की यह चाहत 'बड़ा' या विशाल होने में ही नहीं, इसकी विपरीत दिशा में भी अभिव्यक्त होती है. नई पीढ़ी की किशोरियों में दुबला होने की चाहत भी कम प्रबल नहीं है. देह पर एक मिलीमीटर भी चर्बी (गलत जगह पर) न हो, और आप किसी मॉडल-सी तन्वंगी दिखें इसके लिये भूखा मरना सबसे आसान (और सस्ता भी) उपाय है. यह लोकप्रिय भी कम नहीं है. पर इसके बावज़ूद दुबला बनाने का धंधा भी यहां बड़े मज़े में धड़ल्ले से चल, बल्कि दौड़ रहा है. विज्ञापनों, दवाइयों, कसरतों और कई तरह की सलाहों के ज़रिये आपको तन्वंगी बना देने का खूबसूरत ख्वाब दिखाने वाले भी यहां भरपूर कमाई कर रहे हैं.

सुन्दर दीखने का यह पूरा कारोबार एक खुदगर्ज़ उग्र व्यावसायिक समाज की देन है. यह समाज आपके सामने पहले रोल मॉडल सर्जित करता है, फिर उन जैसा बनने के तरीके सुझाता है, फिर उन तरीकों की सफलता की प्रामाणिक(?) कथाएं गढ़ और प्रचारित कर आपको अपने जाल में फंसाता है. सारा कारोबार चलता है बतर्ज़ 'तुम्ही ने दर्द दिया है तुम्हीं दवा देना'. और यह सारा कारोबार इतनी कुशलता से संचालित किया जाता है कि आपको तो केवल मंच पर नाचतीं-थिरकतीं कठपुतलियां ही दिखती हैं, उन्हें नचाने वाले धागे और उंगलियां तो दृष्टि से ओझल ही रहते हैं. यह अर्ध सत्य आपके जीवन को उस दिशा में मोड़ने में कामयाब होता है जिस दिशा में उसके जाने से 'उन्हें' फायदा हो.

****

कहो जी तुम क्या-क्या खरीदोगे[1]

अमरीका में बाज़ार और खरीददारी का अनुभव भारत के अनुभव से बहुत भिन्न है. न यहां वैसी भीड़-भाड़ है, न चिल्ल-पों, न लम्बे-चौड़े वादे, न मोल भाव! लेकिन जो है वह कम महत्वपूर्ण नहीं है.

अमरीका में दुकानों/स्टोर्स का आकार भारत की दुकानों की तुलना में काफी बड़ा होता है. इतना बड़ा कि लोग दुकान के भीतर तिपहिया स्कूटर चला कर भी खरीददारी करते हैं. ये स्कूटर खुद दुकान वाले ही निःशुल्क उपलब्ध कराते हैं. दुकानों में सामान चुनने के लिये गाड़ियां (carts) तो होती ही हैं. दुकानें प्रायः बेचे जाने वाले सामान या सामान-समूह के अनुसार होती हैं, मसलन कपड़ों की, फर्नीशिंग की, ग्रॉसरी की, इलेक्ट्रॉनिक सामान की, खिलौनों की, आदि. इनमें कई बार बड़े सूक्ष्म विभाजन भी होते हैं जैसे शिशुओं के कपड़ों की दुकान अलग और बच्चों के कपड़ों की अलग. ब्राण्ड शॉप्स भी खूब हैं, यानि ऐसी दुकानें जहां किसी एक ही ब्राण्ड के उत्पाद मिलते हैं. अमरीका में दुकानों की श्रृंखलाओं (Chains)का बड़ा प्रचलन है. यानि एक ही कम्पनी/नाम की दसियों, बीसियों, सैंकड़ों, हज़ारों दुकानें. ये दुकानें/स्टोर कपड़ों, खाद्य सामग्री, उपभोक्ता सामग्री, आम ज़रूरत की चीज़ों से लेकर रेस्तरां और किताबों तक की हैं. यहां तक कि सेण्डविच(सबवे), फलों के रस (जाम्बा ज्यूस),वीडियो लाइब्रेरी(ब्लॉकबस्टर) और नाई की दुकान(सुपर कट्स) तक की श्रृंखलाएं हैं. कुछ श्रृंखलाओं से तो हम भारत में भी परिचित हैं,जैसे मैक्डोनल्ड्स, पिज़्ज़ा हट, केण्टुकी फ्राइड चिकन (KFC) वगैरह. इन श्रृंखलाबद्ध दुकानों में वर्गभेद भी कम नहीं

है. वाल मार्ट की दुकानें अपेक्षाकृत गरीब लोगों के लिये हैं तो बोन मेसी, जे सी पेनी या नॉर्डस्ट्रोम की अमीरों के लिये. कोस्टको की श्रृंखला बहुत लोकप्रिय है क्योंकि यहां थोक माल अपेक्षाकृत कम मुनाफे पर बेचा जाता है. कई स्टोर अपने मेम्बर्स को कुछ अतिरिक्त छूट देकर अपनी ओर खींचने का प्रयास करते हैं. यह मेम्बरशिप कहीं सशुल्क होती हैं, कहीं निःशुल्क. स्टोर्स का आकार चकित कर देने वाली हद तक बड़ा होता है. फ्रेड मायर, जे सी पेनी, वालमार्ट, कोस्टको आदि के स्टोर में अगर आप केवल घूमना ही चाहें तो 2-3 घण्टे चाहियें. फ्राय'ज़ का इलेक्ट्रॉनिक शो रूम (रेडियो,टीवी,कम्प्यूटर,कैमरे,फ्रिज, संगीत,फिल्म,दूरबीन,गेम्स वगैरह वगैरह) किसी छोटे-मोटे शहर से कम नहीं. मुझे तो इलेक्ट्रॉनिक शो-रूम की अवधारणा ही भारत से भिन्न लगी. हमारे यहां एक ही दुकान में इतने विविध उत्पाद नहीं रखे जाते. अलबत्ता अब इस तरह के स्टोर आने लगे हैं, पर यह फ्राय'ज़ आकार में दुकान नहीं शहर के निकट बैठता है.

दुकानों/स्टोर्स के समूह का नाम है मॉल. अब तो भारत में भी शॉपिंग मॉल्स उभर रहे हैं, लेकिन अमरीका के मॉल्स में जो भव्यता,विराटता, चमक-दमक, शानोशौकत है वह अभी हमारे यहां कल्पना ही है. मॉल्स में सामान अपेक्षाकृत महंगा होता है पर वहां का शॉपिंग अनुभव अलग ही तरह का होता है. आप कुछ भी न खरीदें तो भी मॉल्स आपको एक अलग तरह की खुशी तो देती ही हैं. मॉल्स में खरीददारी करने वालों के लिये बैठने, खाने-पीने व मनोरंजन का भी पूरा प्रबंध होता है. अक्सर संगीत के कार्यक्रम चलते रहते हैं. अवसरानुकूल सजावट होती है. जैसे क्रिसमस पर क्रिसमस ट्री बनाये जाते हैं जिनकी छटा देखते ही बनती है. नितांत साफ-सुथरे रेस्ट रूम्स होते हैं जिनमें बच्चों के डायपर बदलने के लिये भी अनिवार्यतः समुचित प्रबंध होता है. विकलांगों के लिये कहीं भी जा सकने की अलग, सम्मानजनक, सुविधापूर्ण , उत्तम व्यवस्था होती है. यहां तक कि इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि वे अपनी व्हील चेयर सहित ही रेस्ट रूम के भीतर तक आ जा सकें. जो लोग धूम्रपान करना चाहें उनके लिये मॉल के प्रवेश द्वार के पास एक निर्धारित स्थान होता है. कहना अनावश्यक है, मॉल के भीतर धूम्रपान नहीं किया जा सकता. पूरा का पूरा मॉल शीतताप नियंत्रित जो होता है.

सभी दुकानों/स्टोर्स/शोरूम्स में स्वयमसेवा पद्धति होती है, यानि आप सामान देखें, पसन्द करें, उठा कर अपने कार्ट में रख लें. अगर कुछ जानना चाहें तो सेल्सपर्सन से पूछ लें. यह नहीं कि सेल्सपर्सन आकर आपसे उत्पाद की धुंआधार तारीफ (जिसमें बहुत कुछ मिथ्या ही हो) करना शुरू कर दे. आप पूछेंगे तभी वह बतायेगा. पूरी प्रामाणिकता और ईमानदारी के साथ. अगर उसे पता नहीं होगा तो ऐसे व्यक्ति को बुला देगा जिसे पता हो.

या फिर साफ कह देगा कि इस बारे में जानकारी सुलभ नहीं है, पर गलत जानकारी कभी नहीं दी जाएगी. हम लोग एक माइक्रोवेव अवन (Microwave Oven) खरीदना चाहते थे. अमरीका में विद्युत उपकरण 110 वोल्ट पर चलते हैं जबकि भारत में 230 पर चलते हैं. हमने कम से कम दस स्टोर्स पर पूछा होगा, पर सभी पर सेल्सपर्संस ने यही कहा कि कनवर्टर पर अवन ठीक से नहीं काम करेगा. भारतीय सेल्समेन कभी ऐसा नहीं कहता. उसकी कोशिश यही होती कि आप एक बार तो खरीद ही लें.

बहुत बड़े, भरे-पूरे स्टोर्स या शो रूम्स, पर स्टाफ बहुत कम. वस्तुतः यहां हर आदमी हर काम निस्संकोच कर लेता है. यह नहीं कि मैनेजर है तो सामान नहीं उठाएगा. ग्राहकों की चौकीदारी भी, कम से कम दिखाई देती हुई तो नहीं. होती तो है ही. सुरक्षा कैमरे भी लगे होते हैं और प्रवेश द्वार पर बाकायदा यह सूचना प्रदर्शित की जाती है कि यहां सुरक्षा कैमरे लगे हुए हैं. यह सूचना इसलिये भी कि कहीं न कहीं इससे आपकी निजता (Privacy) तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता (जो अमरीका में सर्वोपरि है) का हनन होता है. एक दूसरी व्यवस्था मुझे ज़्यादा मज़ेदार लगी. हर उत्पाद पर एक बार कोड (Bar Code) लेबल लगा होता है. जब आप कोई सामान खरीद कर चैक आउट करते हैं तो उस बार कोड को स्कैन कर लिया जाता है. इसीसे बिल भी बन जाता है. जब आप सेंसर(Sensor)लगे दरवाज़े से बाहर निकलने लगते हैं तो वहां लगे सेंसर्स यांत्रिक रूप से ही यह पड़ताल कर लेते हैं कि आप कोई बगैर चैक आउट कराया सामान लेकर तो नहीं निकल रहे हैं. अगर आपके पैकेट/कार्ट में ऐसा कोई सामान हुआ तो तुरंत सायरन बज उठेगा. यदा-कदा गलती से भी सायरन बज जाता है. पर तब आपसे पूरी विनम्रता से क्षमा-याचना कर ली जाती है. ऐसी गलती होती कम ही है.

दुकानों में मूल्य प्रणाली वैसी है जिसे भारत में हम बाटा कीमत के नाम से जानते हैं. सभी चीज़ों की कीमत 99 (सेण्ट/डॉलर) पर समाप्त होती है, जैसे 3.99 या 999. ज़ाहिर है, इसका एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है. आप हज़ार डॉलर का नहीं नौ सौ निन्लानवे डॉलर का माल खरीदते हुए नौ सौ पर ध्यान देते हैं. लेकिन इस मूल्य व्यवस्था के ज़िक्र के साथ यह बताना आवश्यक है कि दुकानदार आपको एक सेण्ट (डॉलर का सौंवा भाग) भी लौटाता है. 'खुल्ला नहीं है' का बहाना कोई नहीं करता.लेकिन यह बात ग्राहक पक्ष पर भी उतनी ही लागू होती है. ‘ऊपर के पैसे तो छोडने ही हैं’ का आग्रह भी कोई नहीं करता. इसलिये एक तरह से मामला बराबर रहता है.

'सेल' तो यहां चलती ही रहती है. अवसर आते रहते हैं. जैसे मेमोरियल डे, इण्डिपेंडेंस डे, वैलेण्टाइन डे, हैलोवीन, थैंक्स गिविंग डे, पैरेण्टस डे, फ्रैण्डशिप डे, वगैरह. क्रिसमस और न्यू ईयर तो सेल के सबसे बड़े अवसर हैं ही. अगर कुछ नहीं तो वीक एण्ड सेल ही सही, या फिर मौसम बदलने पर स्टॉक क्लियरेंस सेल. पर खास बात यह कि ये सेल फर्ज़ी नहीं होती. यानि दाम वाक़ई घटाये जाते हैं. दरअसल यहां नए का क्रेज़ इतना ज़्यादा है कि चीज़ें जैसे ही थोडी पुरानी होती हैं उनके दाम घटाकर उन्हें निकालकर नए के लिये जगह बनानी पडती है. आज जो ड्रेस एक सौ डॉलर में मिल रही है, अगर आप एक-डेढ़ माह प्रतीक्षा करें तो वही आपको 25 डॉलर में मिल जाएगी. ज़्यादातर स्टोर्स यह भी दावा करते हैं कि उनके दाम बाज़ार में सबसे कम हैं, और इस दावे पर खरा उतरने के लिये वे इतना तक करते हैं कि अगर वही उत्पाद आपको कहीं भी उससे कम दाम पर मिल जाये तो आप अंतर की राशि वापस ले लें, या माल लौटा दें. बड़े स्टोर्स अपना माल बेचने के लिये कई तरह के प्रयास करते हैं. इनमें से एक प्रयास का ज़िक्र करना चाहूंगा. वह है मेल-इन-रिबेट (Mail in rebate). प्रचारित किया जाता है कि अमुक माल 50 डॉलर का है पर उस पर 30 डॉलर की मेल-इन-रिबेट है, इस तरह वह माल आपको 20 डॉलर में ही मिल रहा है. आप 50 डॉलर चुका कर वह चीज़ खरीदते हैं और उसके बाद कुछ फॉर्म/कूपन निर्दिष्ट पते पर भेजते हैं. दो-एक महीने में 30 डॉलर की रिबेट का चैक आपके पते पर आ जाता है. अब होता यह है कि कई ग्राहक मेल-इन-रिबेट के लालच में माल खरीद तो लेते हैं पर व्यस्तता या भूलवश बाद की औपचारिकता पूरी नहीं कर पाते है, और कम्पनी उन्हें रिबेट देने से बच जाती है. इस स्कीम के पीछे एक सोच यह भी है कि मेल-इन- रिबेट दो महीने बाद दी जानी है, तब तक तो वैसे भी वह माल सेल पर आ जाना है. मनोवैज्ञानिक सोच का उपयोग कर आपको वह माल आज ही बेच दिया जाता है जो आप अन्यथा दो माह बाद खरीदते (क्या पता तब तक आपका इरादा बदल ही जाता !). बहुत सारे स्टोर्स कुछ खास उत्पादों के लिये कूपन भी बांटते हैं. कूपन देने पर कुछ छूट मिल जाती है. मज़े की बात यह लगी कि आप चाहें तो स्टोर पर से ही कूपन उठाएं और छूट का लाभ ले लें. पर इस के पीछे भी दूर दृष्टि काम करती है. आप छूट के लालच में स्टोर में जाएंगे तो और भी कुछ खरीद लेंगे. 'एक के साथ एक फ्री' जैसी स्कीम्स तो चलती ही रहती हैं.

यहां के बाज़ार में सबसे महत्वपूर्ण बात मुझे यह लगी कि दुकानदार ग्राहक पर पूरा विश्वास करता है. कैसे ? आपने कोई चीज़ खरीदी, एक महीना उसे काम में लिया, उससे संतुष्ट नहीं हुए. दुकान पर जाएं, चीज़ लौटाएं. पूरा पैसा तुरंत वापस. दुकानदार कभी

आपसे कोई सवाल नहीं करेगा, कोई झिकझिक नहीं करेगा, ज़रा भी आपत्ति नहीं करेगा. यानि गारण्टी की अवधारणा यहां पूरी ईमानदारी से लागू की जाती है. हम लोगों ने एक सोफा सेट खरीदा. तीन-चार माह उसे बरता. लगा कि उसके स्प्रिंग दबते जा रहे हैं. लौटाया और नया ले आये. भारत में यह बात कल्पनातीत है. आशंका यह भी होती है कि कोई इस सुविधा का दुरुपयोग कर ले तो? आप एक टीवी खरीद कर लाएं, दो-तीन महीना देखें, और फिर लौटा दें. यहां कोई ऐसा करता ही नहीं. जो ईमानदारी दुकानदार में है वही ग्राहक में भी है. तभी यह व्यवस्था चल पाती है. दुकानदार की ईमानदारी के तो यहां हमें अनेक अनुभव हुए. एक अनुभव तो मैं ताज़िन्दगी नहीं भूलूंगा. बात बहुत छोटी है. उतनी ही बड़ी भी. अपनी पिछली अमरीका यात्रा में हम क्रेटर लेक घूमने गए थे. यह स्थान निकट के राज्य ओरेगॉन में है. बहुत लम्बी कार-यात्रा थी. रात्रि विश्राम किसी मोटल में किया. सुबह फिर चल पड़े. भूख लगी तो किसी बहुत छोटे-से गांव के मामूली से रेस्टोरेण्ट में गए. अब, यहां शाकाहारी लोगों के लिए मुश्किल रहती है. खास तौर पर छोटी जगहों पर. हमें अपने खाने योग्य एक ही चीज़ नज़र आई. ब्रेड. उसमें कोई फिलिंग लेने से हमने मना कर दिया क्योंकि कोई वेज (Vegetarian) फिलिंग उपलब्ध थी ही नहीं. हम ब्रेड खाना शुरू करने ही वाले थे कि काउण्टर पर जो महिला थी वह हमारे पास आई और क्षमा-याचना करती हुई बोली कि जो ब्रेड हम लाए हैं वह बासी है, कल की बनी हुई है. हमने उसे अपनी शाकाहारी विवशता बताई. उसने रेस्टोरेण्ट मालिक से विमर्श किया और फिर आकर हमें अपना फैसला सुनाया. एक तो हमने बासी ब्रेड ली है, दूसरे कोई फिलिंग भी नहीं ली है, इसलिये हमसे कोई पैसा नहीं लिया जाएगा. मुझे तो उसी वक़्त लगा कि मैं खड़ा हो जाउं और ज़ोर से कहूं : "सलाम अमरीका !" यह अनुभव तो हमें एकाधिक बार हुए हैं कि किसी रेस्टोरेण्ट में गए हैं, कोई खास डिश हमें अच्छी नहीं लगी है, हमने वेटर से अनायास ही इसका ज़िक्र कर दिया है; जब बिल आया है तो पाया है कि उस डिश को बिल में शामिल नहीं किया गया है. क्या आप भारत में इस बात की कल्पना कर सकते हैं? एक औसत, आम दुकानदार की पहली कोशिश ही बासी, पुराना, खराब माल निकालने की होती है. हममें से हरेक के स्मृति कोष में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जब दुकानदार ने अपने माल की खराबी स्वीकार करने की बजाय हमीं को गलत ठहराया है. 'कस्टमर इज़ आलवेज़ राइट' तो किताबों और दीवारों पर लिखी जाने वाली इबारत है. और अगर ग्राहक विदेशी हो तो फिर कहना ही क्या ! सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी बार-बार हाथ थोड़े ही आती है. उसे तो एकदम से हलाल कर ही देना है. लेकिन अमरीका में यह शायद सार्वजनिक (और निजी भी) जीवन की नैतिकता है कि कोई आपको ठगने की चेष्टा नहीं करता. मुझे तो बार-बार यही खयाल

आता रहा कि अगर हम एक विदेशी के रूप में भारत घूमने आये होते तो हमें जो अनुभव होते, उनसे ये अनुभव जो एक भारतीय के रूप में अमरीका घूमते हुए हो रहे थे, कितने भिन्न और विपरीत हैं. चाहें तो यह बात और जोड़ लें कि भारत में विदेशी, गोरी चमड़ी वगैरह के प्रति अतिरिक्त सम्मान-भाव के बावज़ूद विदेशियों से दुर्व्यवहार होता है और उनको ठगा जाता है, जबकि दुनिया में अपनी चौधराहट के लिए कुख्यात इस देश में हम तो, तीसरी दुनिया के नागरिक होने के बावज़ूद, ये अच्छी यादें बटोर रहे हैं.

व्यापारिक नैतिकता का एक और नमूना यहां इस बात में भी देखने को मिला कि अगर किसी कम्पनी को पता चलता है कि उसका कोई उत्पाद त्रुटिपूर्ण था तो वह बाकायदा विज्ञापन देकर उस उत्पाद को वापस लेती (Recall) है. हमने ऐसे कई विज्ञापन देखे जिनके द्वारा किसी खास बैच के उत्पाद को निर्माता ने अपने खर्च पर वापस मांगा. लोग लौटाते भी हैं. एक उदाहरण तो यह लेख लिखते लिखते ही मिला. साइकिलों के ताले बनाने वाली एक प्रसिद्ध कम्पनी को यह शिकायत मिली की उसके ताले महज़ बॉल पॉइण्ट पेन की पतली प्लास्टिक बॉडी से ही खोल लिये जा सकते हैं. कम्पनी ने पड़ताल की और शिकायत को सही पाया. कम्पनी ने उन तालों का सारा स्टॉक बाज़ार से उठा लिया है और यह सूचना प्रसारित की है कि जिन लोगों ने वे ताले खरीदे हैं वे उन्हें लौटा कर रिप्लेसमेण्ट प्राप्त कर लें. क्या मेरे आदरणीय पाठकों को अपने भारत का भी कोई ऐसा उदाहरण याद आता है?

और जब भारत का ज़िक्र आ ही गया है तो दो एक बातें इसी क्रम में भी कर ही लूं. अमरीका के बाज़ारों में घूमते हुए मैंने यह नोट किया कि 'मेड इन अमरीका' उत्पाद तो बहुत ही कम हैं. लगभग सारी ही दुनिया में निर्मित उत्पाद हमें देखने को मिले. वस्तुतः अमरीकी कम्पनियां भी अपने उत्पाद और-और देशों में ही बनवाना ज़्यादा फायदेमन्द पाती हैं, बावज़ूद इस बात के कि यह आउटसोर्सिंग यहां का एक बड़ा राजनीतिक मुद्दा है. 'मेड इन अमरीका' उत्पाद तलाश करने निकलेंगे तो वह प्रसिद्ध विज्ञापन पंक्ति ही याद आएगी: 'ढूंढते रह जाओगे'. सस्ती सामग्री (केवल सस्ती ही नहीं, बहुत महंगी और हाई-टेक भी) सर्वाधिक चीन निर्मित मिलती है. ऐसी सामग्री जिस पर 'मेड इन इण्डिया' का लेबल हो, बहुत ही कम देखने को मिली. भारत निर्मित कपडे ही ज़्यादातर यहां देखने को मिले, बस! इतना विशाल देश, इतने प्राकृतिक संसाधन, पर विश्व बाज़ार में उपस्थिति नगण्य ! क्यों? इस क्यों का जवाब कहीं हमारे उत्पादों की 'गुणवत्ता' में तो नहीं छिपा है. या राजनीति में? या कहीं और? कहां? हमें चिंतित होना चाहिये.

भारत से जुडी एक और बात.

जिन शहरों में भारतीय नागरिक बड़ी संख्या में हैं, जैसे इस सिएटल में, वहां ऐसी भी कुछ दुकानें खुल गई हैं जो सारा भारतीय सामान रखती हैं. सिएटल में 'मयूरी' में जाकर हमें सदा यही लगा कि हम भारत में ही हैं. हल्दीराम की भुजिया, बेडेकर का अचार, एमडीएच के मसाले, बीकानेर के पापड, पार्ले जी के बिस्किट और ऐसी ही तमाम चीज़ें. सारे भारतीय मसाले. क्या नहीं था वहां? सारी भारतीय फिल्में, उनका संगीत! और हमारे देखते ही देखते इस मयूरी ने एक चाट भण्डार भी खोल कर रही-सही कमी भी पूरी कर दी. दुकान के बाहर खड़े हो जाएं तो केवल भारतीय ही नज़र आएं. कभी-कभार अमरीकी भी. आखिर भारतीय व्यंजन उन्हें भी तो पसन्द आते हैं. इस शहर में ऐसे अनेक रेस्टोरेण्ट भी हैं जो प्रामाणिक भारतीय व्यंजन परोसते हैं, और वे खचाखच भरे रहते हैं. एक मूवी थिएटर केवल हिन्दी फिल्में ही दिखाता है. वैसे यहां हिन्दी फिल्में लगभग उसी दिन देखी जा सकती हैं जिस दिन वे भारत में रिलीज़ होती हैं. उनकी वैध डीवीडी (DVD) आसानी से उपलब्ध होती हैं.

बहुत छोटी दुकानों जैसी कोई चीज़ हमें यहां देखने को नहीं मिली. जैसे हमारे यहां के पान के गल्ले, या चाय की थड़ी. बल्कि कई बार तो यह अखरा भी कि सड़क पर क कर पान खाने की न सही (भई, अमरीका है, यहां पान कहां?) सिगरेट पीने की सुविधा (वह भी एक सिगरेट खरीद कर) यहां नहीं है. और न ही है किसी मुड़िया पर बैठ कर चाय पीने का सुख मयस्सर है. सिगरेट पीनी है तो पूरा पैकेट (मूल्य 4 डॉलर=200 पये) खरीदिये, स्मोकर्स ज़ोन में जाइये; ज़्यादातर दुकानें ,स्टोर,मॉल वातानुकूलित जो हैं. जो नहीं हैं वहां भी धूम्रपान तो वर्जित ही है. चाय का प्रचलन यहां कम है. खास तौर पर उस चाय का जिसे पीने के हम आदी हैं. अलबत्ता यहां एक भिन्न तरह की बगैर दूध चीनी की चाय मिल जाती है, पर उससे हमारी तलब पूरी नहीं होती. कॉफी की अनेकानेक किस्में हैं. कॉफी शॉप्स तो खूब हैं ही, किसी भी बडी दुकान में, अस्पताल तक में कॉफी की वेण्डिंग मशीन तो होगी ही. शीतल पेय की भी. सिक्का डालिये, माल हाज़िर. हम जिस सिएटल में करीब छह माह रहे वहां की दुनिया को देन लाटे कॉफी भी है. स्टारबक्स नामक कॉफी श्रृंखला की गणना अमरीका के बहुत बड़े प्रतिष्ठानों में होती है. यह प्रतिष्ठान सिएटल का ही है.

अमरीका के बाज़ार की चर्चा करूं और किताब की दुकान का ज़िक्र न करूं, यह कैसे सम्भव है? बार्न्-स एण्ड नोबल तथा बोर्डर्स यहां की दो प्रसिद्ध और बहुत बड़ी पुस्तक

विक्रय श्रृंखलाएं हैं. नेट आधारित अमेज़न डॉट काम तो है ही. आप किसी भी पुस्तक दुकान में जाएं, किताबें विषयानुसार जमी मिलती हैं, न केवल विषयानुसार, उसमें भी तरह-तरह के सूक्ष्म वर्गीकरण. साहित्य-कविता-प्रगतिवादी-निराला की कविता, इस तरह से. किताबों को, खास तौर पर नव प्रकाशित किताबों को, डिस्प्ले भी बहुत आकर्षक तरीके से किया जाता है. खूब प्रचार होता है. लेखक जगह-जगह जाकर पुस्तक पर हस्ताक्षर करता है, पाठकों से चर्चा करता है. किताब की दुकान में कॉफी शॉप तो होती ही है. किताब की दुकान एक तरह से लाइब्रेरी भी होती है. आप किसी भी किताब को वहां बैठकर कितनी भी देर तक पढ सकते हैं. चाहें तो खाते-पीते हुए भी. मैंने कई दुकानों में बच्चों की किताबों के सेक्शन में माताओं को ज़मीन पर बैठकर अपने शिशुओं/बच्चों को दुकान की किताब से कहानी/गीत/कविता पढकर सुनाते देखा. किताब की दुकान में संगीत (अर्थात कैसेट, सीडी,डीवीडी आदि) भी अनिवार्यतः मिलता है. यों यहां श्रव्य पुस्तकों (Audio Books) का भी काफी चलन है. थोड़ी बहुत स्टेशनरी भी हर दुकान पर मिलती ही है. अनेक दुकानें ऐसी हैं जो आधे मूल्य पर या एक निश्चित मूल्य पर - जैसे एक डॉलर में- किताबें बेचती हैं. प्रकाशन के एक आध माह बाद ही पुस्तक घटी कीमत पर मिलने लग जाती है. मज़े की बात यह कि आम ज़रूरत का सामान रखने वाली दुकानों व स्टोर्स में भी किताबों का एक खण्ड अवश्य होता है. यह अलग बात है कि वहां गम्भीर किताबें कम और बेस्टसेलर नुमा किताबें ज़्यादा मिलती हैं. नेट आधारित अमेज़न डॉट काम पर तो आप दुनिया की किसी भी किताब का ऑर्डर कर सकते हैं.

वस्तुतः धीरे-धीरे इण्टरनेट एक अलग ही बाज़ार का रूप लेता जा रहा है. आपको कुछ भी खरीदना है, नेट पर ऑर्डर कर सकते हैं. नेट पर ऐसी भी अनेक साइट्स हैं जो वस्तुओं के बारे में विस्तृत जानकारी, समीक्षा, यहां तक कि विभिन्न दुकानों पर का उनका तुलनात्मक मूल्य भी उपलब्ध कराती हैं. आप देखें, परखें, चुनें और ऑर्डर कर दें. माल आपके पास पहुंच जाएगा. आपको तो अपनी टेबल से भी नहीं हटना है.संतुष्ट न हों तो माल लौटा तो सकते ही हैं. असल में इस तरह का व्यापार एक नैतिक समाज में ही पनप सकता है, और अब तो यह कह कर मैं अपने को दुहरा ही रहा हूं कि अमरीका में दुकानदार की विश्वसनीयता सन्देह से परे है. ग्राहक की भी. इसीलिये यहां इण्टरनेट आधारित व्यापार तेज़ी से फैलता जा रहा है.

अमरीका में भुगतान के लिए क्रेडिट कार्ड का बहुत ज़्यादा उपयोग होता है. ऐसा लगता है कि इसने एक हद तक पेपर करेंसी को विस्थापित कर दिया है. इण्टरनेट पर खरीददारी के लिये तो इसका उपयोग होता ही है, लगभग हर स्टोर, हर रेस्टोरेण्ट, हर सेवा क्रेडिट

कार्ड स्वीकार करती है. हमने कोई ऐसी जगह नहीं देखी जहां क्रेडिट कार्ड स्वीकार नहीं किया जाता हो. यहां तक कि सरकारी महकमे भी क्रेडिट कार्ड से भुगतान स्वीकार करते हैं. अगर आप नकद भुगतान करते हैं तो कैशियर यह बोलता है कि आपने उसके हाथ में कितनी मुद्रा थमाई है. इसके बाद अगर उसे आपको कुछ राशि लौटानी है तो लौटाते वक़्त वह फिर से यह बोलता है कि कितनी राशि लौटाई जा रही है. इससे पारदर्शिता बढती है. पहले ही कह चुका हूं कि शेष राशि लौटाने में, चाहे वह कितनी ही तुच्छ (1 सेण्ट भी) क्यों न हो कोई कोताही नहीं होती. दुकानदार विदा के वक़्त ' हैव अ नाइस डे' जैसा वाक्य कहने से कभी नहीं चूकता. अगर आप किसी छोटी दुकान में भी प्रवेश करते हैं तो वहां उपस्थित कर्मचारी मुस्कान के साथ आपका स्वागत करते हुए यह पूछना नहीं भूलता कि क्या वह आपकी सहायता करे. आशय यह कि अगर आप कोई खास चीज़ तलाशने में उसकी मदद चाहते हैं तो वह हाज़िर है, अन्यथा 'नो, थैंक्स' कह कर आप अपने आप अवलोकन कर सकते हैं.

सामान्यतः चीज़ें अंकित/मुद्रित मूल्य पर मिलती हैं. अमरीका में भारत की तरह एम आर पी (MRP) का चलन नहीं है. चीज़ों पर स्टोर वाले ही मूल्य अंकित करते हैं और ये मूल्य अलग-अलग स्टोर्स में अलग-अलग भी हो सकते हैं. कभी-कभी चीज़ों पर दिखाई देने वाला मूल्य अंकित नहीं होता अर्थात बार कोड की कूट लिपि में ही अंकित होता है. बड़े स्टोर्स में तो ऐसे यंत्र लगे होते हैं जहां आप यह अदृश्य मूल्य पढ सकते हैं. चाहें तो सेल्स पर्सन से पूछ सकते हैं. ऐसे में मोल-भाव की तो सारी स्थितियां ही खत्म हो जाती हैं. लेकिन हमें इसी अमरीका में एक अलग तरह का अनुभव भी हुआ. अब तक तो मैं छोटी चीज़ों की खरीददारी के अनुभव आपसे बांट रहा था. अलग अनुभव का ताअल्लुक बडी खरीद से है. हमारे दामाद मुकेश को एक नई कार खरीदनी थी. एक खासी बड़ी कार इन लोगों के पास थी लेकिन अब नव्या के पदार्पण के बाद और बड़ी कार की ज़रूरत महसूस होने लगी थी. यों भी अमरीका में 'जितने प्राणी उतनी कारें' वाली स्थिति आम है. इन लोगों के ऑफिस में फ्लेक्सिबल वर्किंग ऑवर्स (Flexible working hours) वाली व्यवस्था है, यानि जब आपकी इच्छा और सुविधा हो दफ्तर आ जाएं. तो इस सुविधा का उपयोग भी करना था कि चारु और मुकेश दोनों अलग-अलग समय पर ऑफिस जाएं ताकि कोई एक बच्ची के साथ घर पर रह जाए. मुकेश ने इण्टरनेट पर खासी पड़ताल कर एक खास ब्राण्ड और मॉडल चुना. बहुत महंगा. लगभग 40 हज़ार डॉलर (यानि 20 लाख) का. कम्पनी के शो रूम पर जाने पर भिन्न तरह के अनुभव हुए. ऐसे अनुभव कि हमें अपने जयपुर का बापू बाज़ार - नेहरू बाज़ार याद आ

गया, जहां दुकानदार अपनी बताई कीमत से तभी पीछे हटता है जब आप उसकी दुकान छोड़ कर आगे निकल जाएं. यहां भी हम कोई तीन चार बार शो रूम से उठकर चल दिये. हर बार लगा कि अब तो वार्ता भंग हो गई. लेकिन अंततः मुकेश काफी दाम कम कराने में सफल रहे. इससे पता चला कि मोल-भाव यहां भी उसी तरह होता है जैसे भारत में होता है.

अमरीका में रहते हुए मेरा ध्यान कुछ खास बातों पर बार-बार गया. एक यह कि यहां चीज़ों की पैकिंग पर बहुत ध्यान दिया जाता है. बाह्य पैकिंग पर न केवल सारी जानकारी मुद्रित की जाती है, पर्याप्त सुरक्षा चेतावनियां भी अनिवार्यतः अंकित की जाती हैं. इस बात पर बहुत ध्यान दिया जाता है कि पैकिंग को खोलने में आपको कम से कम असुविधा हो. हमने देखा कि दवा की पैकिंग में यह ध्यान बहुत ज़्यादा रखा जाता है, जैसे अगर दवा जोड़ों के दर्द की है तो उसकी पैकिंग इस बात को ध्यान में रख कर की जाती है कि इस रोग का मरीज़ भी उसे आसानी से खोल सके. खाद्य पदार्थों की पैकिंग पर न्यूट्रीशन विषयक पूरी जानकारी अंकित होना ज़रूरी है.

एक बहुत बड़ी बात मुझे यह लगी कि यहां अपनी कला-संस्कृति का भरपूर व्यावसायिक दोहन किया जाता है. मैं यह बात प्रशंसा के तौर पर कह रहा हूं. मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि गर्भवती माताओं और नवजात शिशुओं तक के लिए मोत्ज़ार्ट, बीथोवन, बाख, हेण्डेल्स, विवाल्डी, ब्राह्म्स आदि का संगीत इस प्रचार के साथ बेचा जाता है कि इससे शिशु के मानसिक विकास की गति तीव्र होती है. शिशुओं के लिए लोरियां इन महान संगीतकारों के सृजन पर आधारित होती है. शिशु और बाल पुस्तकों तक में पश्चिम के महानतम कलाकारों की कृतियों का उपयोग किया जाता है. महत्वपूर्ण बात यह कि यह सारी सामग्री सुलभ है. इसका बड़ा फायदा मुझे यह लगा कि इस तरह न केवल माता-पिता, बल्कि शिशु भी अपनी विरासत के उत्कृष्ट के सम्पर्क में आता है. मैं सोचता रहा कि शिव कुमार शर्मा का संतूर सुनने से गर्भवती मां पर वही असर क्यों नहीं हो सकता जो बीथोवन का संगीत सुनने से होता है, या राग भैरवी पर आधारित लोरी (जिसे किशोरी अमोनकर ने गाया हो) सुनने से शिशु को मीठी नींद क्यों नहीं आ सकती? व्यवसाय के पीछे भी कलात्मक सोच हो सकता है, बल्कि होना चाहिये- यह मैंने यहां आकर देखा समझा.

भारत में अमरीका की तीखी आलोचना आम है. पूंजीवाद की सारी क्षुद्रताओं को हम घर बैठे ही अमरीका पर चस्पा कर देते हैं. पर यहां आकर जो अनुभव होते हैं वे बहुत भिन्न

हैं. बाज़ार तो पूंजीवाद का मूर्त रूप है, पर यहां का बाज़ार जो अनुभव देता है वे आम तौर पर मीठे हैं. निश्चय ही बाज़ार का मूल मंत्र मुनाफा है. जो कुछ भी होता है निर्माता और विक्रेता के लाभ के लिये ही होता है. लेकिन यह तो जीवन चक्र की अनिवार्यता है. इसे स्वीकार करने में संकोच क्यों हो? देखने की बात यह है कि कोई अपना लाभ कमाने की प्रक्रिया में आपको नुकसान तो नहीं पहुंचा रहा है, और उसका लाभ कमाना आपके कष्ट का कारण तो नहीं बन रहा है? अमरीका के बाज़ार में मुझे सर्वाधिक प्रशंसनीय यही लगा कि यहां हर सम्भव प्रयास किया जाता है कि आपका बाज़ार अनुभव सुखद हो. तभी तो आप बार-बार बाज़ार आएंगे. खरीदना न खरीदना आपकी ज़रूरत और इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है. साहिर लुधियानवी की पंक्तियां 'कहो जी तुम क्या क्या खरीदोगे, यहां तो हर चीज़ मिलती है' अमरीका के बाज़ार में कानों में गूंजती रहती हैं.

****

---

1. शीर्षक साहिर लुधियानवी रचित एक फिल्मी गीत से, साभार.

माइकल मूर : असहमति में उठा हाथ

इन दिनों माइकल मूर अमरीका में सर्वाधिक चर्चित नामों में से है. टाइम पत्रिका ने भी उन्हें अपने आवरण(12 जुलाई, 2004) पर जगह दी है. सारे देश में उनके विचारों को लेकर तीव्र बहस हो रही है. बहस के मूल में है उनकी ताज़ा फिल्म – 'फारेनहाइट 9/11'. 9/11 का मतलब है ग्यारह सितम्बर. अमरीका में महीना पहले लिखा जाता है, तारीख बाद में.पाठकों को स्मरण ही होगा कि ग्यारह सितम्बर को न्यूयार्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमला हुआ था. उस घटना ने अमेरिका को हिलाकर रख दिया था.

23 अप्रेल 1954 को जन्मे माइकल मूर एक फिल्म निर्देशक, लेखक, निर्माता, अभिनेता और कुछ हद तक एक्टिविस्ट हैं. उनकी एक टीवी सिरीज़ ' टी वी नेशन' अमरीका में काफी चर्चित व लोकप्रिय रही है. 'ड्यूड, व्हेयर इज़ माई कण्ट्री' और 'स्टुपिड व्हाइट मेन' किताबों ने अमेरिका के बौद्धिक जगत में तीव्र उत्तेजना पैदा की

थी. अब माइकल की ताज़ा फिल्म न केवल सिनेमाघरों में भारी भीड़ आकर्षित कर रही है, इसने जैसे पूरे अमरीका को ही दो भागों में बांट दिया है. वे जो माइकल के साथ हैं, एक तरफ हैं और इस फिल्म पर तारीफों के फूल बरसा रहे हैं. दूसरी तरफ वे हैं जो माइकल के लिये अपनी गालियों का पूरा खज़ाना खोले हुए हैं और इस फिल्म को बेहद फूहड़, गैर-कलात्मक और झूठ का पुलिन्दा बता रहे हैं.

इस फिल्म में राष्ट्रपति बुश की इराक़ विषयक नीतियों का खुला विरोध है. उन पर आरोप लगाया गया है कि उन्होने 11 सितम्बर की घटना का बहाना बनाकर इराक़ पर हमला किया. फिल्म बुश की कार्यप्रणाली का खुला विरोध करती है. इसके लिये जो प्रसंग उठाये गये हैं वे वास्तविक हैं. इसीलिये यह फिल्म डॉक्यूमेण्ट्री है.

फारनहाइट 9/11 116 मिनिट अवधि की डॉक्यूमेण्ट्री फिल्म है. इस फिल्म ने अपनी जमात की फिल्मों में सफलता के सारे कीर्तिमान ध्वस्त कर नये झंडे गाडे हैं. कान फिल्म समरोह में इस फिल्म ने अपनी श्रेणी की 17 फिल्मों को पछाड़ कर सर्वश्रे फिल्म का 'पाम डो' पुरस्कार जीता तथा अमरीका में रिलीज़ होने के पहले तीन दिनों में दो करोड़ से ज्यादा की कमाई की. यों अमरीका में इस तरह की डॉक्यूमेण्ट्री फिल्मों का खासा प्रचलन है. हाल ही में ' सुपरसाइज़ मी' जो फास्ट फूड के विरोध में थी और 'विण्ड माइग्रेशन' जो पर्यावरण सँरक्षणके पक्ष में थी, भी खासी लोकप्रिय रही हैं. लेकिन अमरीका में बॉक्स ऑफिस पर इतनी सफल होने वाली यह पहली डॉक्यूमेण्ट्री है. इस फिल्म को इसकी राजनीतिक प्रकृति के कारण यहां की वाल्ट डिज़्नी कम्पनी रिलीज़ करने से मना कर चुकी थी लेकिन अब अपनी सफलता के कारण यह अपनी श्रेणी की पहली फिल्म बन गयी है.

फिल्म के सर्वाधिक विवादास्पद एवं चर्चित प्रसंगों में से एक में राष्ट्रपति बुश को 11 सितम्बर को फ्लोरिडा के एक एलीमेंट्री स्कूल में दिखाया गया है. वर्ल्ड ट्रेड सेंटर से दो विमान टकरा चुके हैं. बुश दूसरी कक्षा के बच्चों को ' मेरी प्यारी बक़री' सुना रहे हैं. तभी उनके चीफ ऑफ स्टाफ एंड्र्यू कार्ड आते है, और उनके कान में कुछ कहते हैं. हमें बाद में पता चलता है कि कार्ड ने बुश को बताया है कि अमरीका पर हमला हुआ है. राष्ट्रपति जड़वत हैं. फिल्म की गति धीमी होती है, जिससे उनकी एक-एक हरकत उभरती है. करीब सात मिनिट बुश कक्षा में ही रहते हैं. इसके बाद वे अपने स्टाफ से ' हमले' के बारे में चर्चा करने जाते हैं.

ग्यारह सितम्बर की घटना की पड़ताल करने वाले आयोग की रिपोर्ट में भी कहा गया है कि उस अवधि में पेंटागन से कोई सम्पर्क नहीं किया गया. राष्ट्रपति के क़ाफिले ने 9.35 पर स्कूल से प्रयाण किया तथा 9.45 पर राष्ट्रपति ने पहली बार अपने उप राष्ट्रपति से बात की.

यह फिल्म राष्ट्रपति बुश तथा बिन लादेन के परिवार के बीच भी एक नापाक रिश्ते की तरफ इशारा करती है. कुछ ऐसा आभास दिया जाता है कि बुश के टेक्सास एयर नेशनल गार्ड ज़माने के एक दोस्त जेम्स बाथ के माध्यम से बिन लादेन परिवार का धन बुश की असफल तेल खुदाई कम्पनी आर्बस्टो एनर्जी में लगाया गया.

मूर ने बुश और लादेन परिवारों की नज़दीकी के लिये वाशिंगटन स्थित इक्विटी फर्म कार्लाइल में उनके साझा हितों की तरफ भी संकेत किया है. राष्ट्रपति बुश के पिता इस कार्लाइल ग्रुप के एड्वाइज़र भी रहे हैं. लेकिन जानकारों के अनुसार, यह प्रसंग बहुत प्रामाणिक नहीं है.

मूर ने वाशिंगटन पोस्ट के हवाले से यह कहा है कि राष्ट्रपति बुश ने अपने कार्यकाल के प्रथम आठ माह का 42 प्रतिशत समय छुट्टियां बिताने में ही व्यतीत किया. राष्ट्रपति के समर्थकों ने इस आरोप का खंडन यह कह कर किया है कि बुश ने इस दौरान भी अपने सहायकों से मीटिंगें कर के राज्यकार्य किया. बहस इस बात पर भी है राष्ट्रपति ने 42 प्रतिशत समय छुट्टियों में बिताया या 39 प्रतिशत. कोई ताज़्ज़ुब नहीं अगर हम भारतीयों को इस पर नेह लोहिया की प्रसिद्ध बहस की याद आ जाये.

माइकल ने इस बात पर कड़ी आपत्ति की है कि 11 सितम्बर के बहाने से बुश प्रशासन ने अमरीकी नागरिकों को उनकी कुछेक नागरिक स्वाधीनताएं तज़ देने के लिये प्रेरित किया. मूर ने अमरीकी कांग्रेस की इस बात के लिये भी निंदा की है कि उसने बगैर पढे ही 'यू एस ए पैट्रियाटिक एक्ट' के नाम से जाने जाते आतंकवाद विरोधी बिल को तुरत फुरत पारित कर दिया.

अब यह तो कैसे पता चले कि बिल को पढ़ा गया या नहीं, पर यह प्रमाण-सिद्ध है कि इसे कुछ ज्यादा ही जल्दबाजी में पारित किया गया. यह बिल सरकार को लोगों पर निगाह रखने, आप्रवासियों को बन्दी बनाने या देश से बाहर निकाल देने जैसे अधिकार देता है. यहीं यह उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि माइकल मूर अपनी वेबसाइट पर

इस बिल के विरोध में जनमत जगाते हैं. वे जगह-जगह भाषण देकर भी यह काम करते हैं.

अपने विभिन्न रूपों में माइकल अमरीकी सत्ता तंत्र की बहुत सारी परतें खोलते हैं. अपनी किताब 'स्टुपिड व्हाइट मेन' में, तथा इस फिल्म में भी, वे यह बताकर चौंकाते हैं कि 11 सितम्बर के बाद अमरीकी वायुयानों में सुरक्षा जांच कड़ी कर दी गई थी. यात्रियों के पास कोई भी खतरनाक चीज़ नहीं रहे, इस प्रयास में उनसे बुनाई की सलाई, कपडा सीने की सुई, लिफाफा खोलने वाले चाकू तक रखवा लिये जाने लगे. लेकिन, मूर आश्चर्य और क्षोभ के साथ बताते हैं कि इन सब निषिद्ध सामानों में सिगरेट लाइटर नहीं था. और वह भी तब जब कि ज्यादातर उड़ानें धूम्रपान रहित होती हैं. आप किसी भी उड़ान पर सिगरेट लाइटर ले जा सकते थे. क्यों ? मूर बताते हैं कि हालांकि प्रतिबंधित सामान की सूची में लाइटर था, पर जब वह सूची अनुमोदन के लिये व्हाइट हाउस भेजी गयी तो तम्बाकू उद्योग लाबी हरकत में आई और उसी के दबाव में आकर व्हाइट हाउस ने इस असल खतरनाक चीज़ को सूची से हटा दिया ताकि हवाई जहाज़ से उतरते ही यात्री अपनी प्रिय सिगरेट का कश लगा सके और तम्बाकू उद्योग को कोई नुकसान न हो.

माइकल मूर ने इस फिल्म में हास्य-व्यंग्य, कथा, सम्वेदना, भावुकता, अल्पकथन, बड़्बोलापन- सभी का ब-खूबी इस्तेमाल किया है. फिल्म की सफलता ने इसके दुश्मनों की एक लम्बी क़तार ही खडी कर दी है. फिल्म की सफलता से क्षुब्ध हो कर यहां के एक दक्षिणपंथी फिल्मकार माइक विल्सन ने एक जवाबी डाक्यूमेंण्ट्री बनाने की घोषणा की है, जिसका शीर्षक होगा- 'माइकल मूर हेट्स अमरीका'. एक सुपरिचित विज्ञान कथाकार रे ब्रेडवरी यह कहते हुये इसका विरोध कर रहे हैं कि मूर ने उनकी एक विज्ञान कथा - 'फारनहाइट 45' के शीर्षक को चुराया है. यहां पाठकों को यह याद दिलाना उचित होगा कि 45 डिग्री फारनहाइट पर किताबें जल सकती हैं. रे महाशय ने 1953 में प्रकाशित तथा बहु चर्चित रहे इस उपन्यास में एक ऐसे चिंताजनक भविष्य की कल्पना की थी जहां एक फायरमेन घरों तथा पुस्तकालयों को इस खयाल से जलाता है कि लोग स्वतंत्र रूप से सोच न सकें. मूर ने अपनी इस फिल्म में फारनहाइट 9/11 उस तापमान को कहा है जहां स्वाधीनता जलने लगती है.

यह अमरीका में चुनाव वर्ष है. इस कारण यहां इस फिल्म का विशेष महत्व हो गया है. यहां इस बात को लेकर भी बहुत चर्चा है कि यह फिल्म जन-चेतना को जगाने या जनमत को ढालने में कितनी सफल होगी. अगर फिल्म बॉक्स ऑफिस पर पिट गई होती

तो ये सवाल नहीं उठते, पर फिल्म की सफलता ने एक साथ ही बहुत सारे सवाल खड़े कर दिये हैं.

****

पूंजीवाद के देश में समाजवाद की घुसपैठ

भारत के बारे में पश्चिम के अज्ञान की अक्सर चर्चा होती है. मसलन पश्चिम में भारत को अभी भी सपेरों-हाथियों वाले आदिम देश के रूप में जाना जाता है. मज़े की बात यह कि पश्चिम के बारे में भारत के अज्ञान का भी कमोबेश यही हाल है. जैसे कि पेरिस में कांच की सड़कें हैं या अमरीका में इतनी अमीरी और इफरात है कि लोग अपनी कारें सीधे समुद्र में ही डाल देते हैं. इधर सूचना क्रांति और चाक्षुष माध्यमों के त्वरित विकास से इस तरह के आधारहीन मिथक टूटते जा रहे हैं.

निश्चय ही अमरीका बाहुल्य का देश है. खासी अमीरी है इस देश में. डॉलर की भी, मन की भी. लोगों को उपभोग का और नवीनतम को अपनाने का जैसे जुनून ही है. नए का क्रेज़ इतना है कि महंगी से महंगी ड्रेस एक डेढ़ महीने बाद ही सेल पर चली जाती है. लेकिन जो सामान आपने खरीद लिया है और अब आप जिसका इस्तेमाल नहीं करना चाहते हैं, उसका क्या हो? समुद्र में फेंका जाए? अगर ऐसा ही हो रहा होता तो समुद्र कब का कचरे के ढेर में तब्दील हो चुका होता. समुद्र में फेंकने की बात महज़ अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना है.

तो फिर होता क्या है?

वैसे तो अमरीका में गेराज सेल की अवधारणा काफी लोकप्रिय है. वस्तुतः यहां के गेराज हमारे स्टोर का अमरीकी संस्करण भी होते हैं. वहां न केवल कार/कारें खड़ी की जाती हैं, घर का वह सारा सामान भी रखा जाता है जो एक हद तक गैर या कम ज़रूरी होता है. तो, अगर किसी को कुछ भी सामान अनुपयोगी लगता है, वह उसे अलग छांट, गेराज सेल के बोर्ड के साथ गेराज में रख देता है. अखबार या इण्टरनेट पर विज्ञापन दे दिया जाता है. मूल्य भी प्रचारित कर दिया जाता है. ज़रूरतमन्द आते हैं, सामान पसन्द करते हैं, कभी-कभार मोल-भाव भी होता है, और बस!

लेकिन हर चीज़ के साथ तो यह व्यवस्था कारगर नहीं हो पाती है. अगर आपके सामान का कोई खरीददार न मिले तो? आप खुद ही उसे बेचना न चाहें(पर उससे मुक्ति अवश्य पाना चाहें)तो? जैसे-जैसे पर्यावरण के प्रति जागरूकता बढती जा रही है, चीज़ों को फेंकने (और इस तरह पर्यावरण को बिगाड़ने) का चलन घटता जा रहा है. ऐसे अनेक संगठन बन गये हैं जो विज्ञापन देकर आपसे आपका बेकार सामान लेते हैं (कभी-कभी कुछ शुल्क भी) और उसे री-साइकल करते हैं.

पर इधर हाल ही में कुछ और भी तेज़ दिमाग लोगों ने एक और अच्छी पहल की है. लगता है पूंजीवादी देश में भी समाजवाद आ रहा है. आपके पास ज़्यादा है तो उसे दे दें जिसे उसकी ज़रूरत है.

कैसे होता है यह?

एक संगठन बन गया है - फ्री साइकल(Free cycle). इस संगठन की एक वेब साइट है : www. recycle.org. आप इस साइट पर जाएं और अपने इलाके के संगठन को ढूंढ लें. एक छोटा-सा पंजीकरण फॉर्म भरें - वह भी ऑनलाइन, और बस ! कोई सदस्यता शुल्क नहीं. संगठन का मूल सोच यह है कि कोई चीज़ कबाड़ नहीं होती. हो सकता है जो चीज़ आपके लिये अनुपयोगी हो गई है उसकी ज़रूरत किसी और को हो. संगठन दोनों के बीच आदान-प्रदान को सुगम बनाता है. हमारे इलाके में जो समूह है उसका नाम फ्री साइकल सिएटल है. इस समूह की साइट पर दो तरह के विज्ञापन दिये जाते हैं : ऑफर्ड, और वाण्टेड, यानि देना है और चाहिये. अब आपने ऐसा कोई सन्देश देखा जिसमें ऑफर की गई वस्तु आपको चाहिये, तो आप विज्ञापन दाता को ई-मेल कर दें. क्या होगा, अगर उस चीज़ को चाहने वाले एक से अधिक हों? जिसने सबसे पहले आग्रह किया, उसका हक़ है. सम्वाद से समय तै कर लिया जाएगा, और आपकी ज़रूरत की चीज़ आपको मिल जायेगी. दोनों ही पक्ष कम्प्यूटर पर यह सन्देश प्रसारित कर देंगे कि उनकी तमन्ना पूरी हो गई है.कुछ नियमों-सिद्धांतों का कड़ाई से पालन किया जाता है. जैसे, सारा लेन-देन निशुल्क होगा, जो चीज़ें ली-दी जाएंगी, वे अवैध नहीं होंगी, वगैरह.

फ्री साइकल संगठन इतना लोकप्रिय होता जा रहा है कि लोग गेराज सेल से विमुख होते जा रहे हैं. लोगों को लगता है कि यह संगठन अपने पड़ौसी को जानने व उससे आत्मीय होने का उम्दा माध्यम है. संगठन की लोकप्रियता बढ़ने के साथ-साथ इसके शिष्टाचार

नियम भी गढ़े जाने लगे हैं. लोगों को सलाह दी जाती है कि वे उतना ही लें जितना उन्हें वांछित हो, और यह भी कि उन्हें ज़्यादा खुश देकर होना चाहिये, न कि लेकर.

इस संगठन की सफलता ने कुछ मतलबियों को भी अपना उल्लू सीधा करने का मौका दे दिया है. लोग यहां से प्राप्त ई-मेल पतों को स्पाम (Spam, अवांछित ई-डाक) भेजने के लिये इस्तेमाल करने लगे हैं. अमरीका में स्पाम एक बड़ा सरदर्द है. जब भी आप अपना ई-मेल का इन बॉक्स खोलते हैं, उसमें इतनी अवांछित डाक होती है कि आपकी काम की डाक मानो खो ही जाती है. यह अवांछित डाक प्राय: विज्ञापन होती है, लेकिन इसमें कभी-कभी वायरस भी होते हैं.

अच्छी बात यह है कि चीज़ों के आदान-प्रदान की इस पहल की सफलता ने कुछ और संगठन भी बनवा दिये हैं. ऐसा ही एक संगठन है : टाइमबक्स (Timebucks). यह संगठन लोगों को वस्तु की बजाय समय और सेवाओं के आदान- दान का मौका देता है. मैं आधा घण्टा निकाल सकता हूं, आपको ज़रूरत है, आपके काम आ जाऊं. मैं पढ़ा सकता हूं, आपको पढ़ना है, मिल लें.

इन संगठनों के बारे में जाना-पढ़ा तो लगा कि समाजवाद कभी मर नहीं सकता.

****

अमरीका में अखबार

बचपन में कभी पढ़ा या सुना था कि अमरीका में अखबार बहुत 'स्वस्थ' होते हैं. कोई 100-150 पृष्ठ के. तभी से यह जिज्ञासा थी कि आखिर रोज़ इतने पन्नों में क्या परोसा जाता होगा! इधर इलेक्ट्रोनिक मीडिया और फिर इण्टरनेट के आगमन तथा प्रचलन के बाद मुद्रित शब्द पर जो खतरे मंडराने लगे हैं, उनके परिप्रेक्ष्य में भी अमरीकी अखबार को देखने परखने की आकांक्षा मन में थी. यानि, मेरे लिये अमरीका की 'दर्शनीय' चीज़ों में अखबार भी था.

अमरीका में जगह-जगह अलग-अलग अखबारों के लिये वेण्डिंग मशीनें लगी होती हैं जिनमें अखबार के मूल्य के बराबर सिक्के डालकर आप अखबार प्राप्त कर सकते हैं. वांछित मूल्य का सिक्का डालिये, अलमारीनुमा चीज़ का दरवाज़ा खुल जायेगा. आप अपने

आप एक अखबार उठा लीजिये. बेईमान हों तो ज़्यादा भी उठा सकते हैं, पर यहां कोई ऐसा करता नहीं. बडे-बडे स्टोर्स में, कॉफी की दुकानों, गैस स्टेशंस(यानि पैट्रोल पम्प) वगैरह में भी अखबार बिकते हैं. यहां न बिकने वाले यानि मुफ्त में लिये जा सकने वाले अखबारों की संख्या भी काफी है. किसी भी बडे स्टोर के बाहर कम से कम 15-20 इस तरह के अखबार भी रखे मिलेंगे, जिन्हे बगैर मोल चुकाये उठाया जा सकता है. पर मैंने किसी को भी इन्हें उठाते नहीं देखा. घरों के मेल बॉक्सेज़ में भी इस तरह के अखबार डाल दिये जाते हैं. इन अखबारों की आय का स्रोत इनमें प्रकाशित विज्ञापन होते हैं. पर इनकी चर्चा थोडा बाद में.

मैंने यहां लम्बे समय तक नियमित रूप से एक अखबार 'सिएटल टाइम्स' पढा. वैसे समय-समय पर अन्य अखबार भी देखता रहा. मेरा यह लेख मुख्यतः इसी 'सिएटल टाइम्स' पर आधारित है. मुझे अन्य अखबार भी कमोबेश इसी तरह के लगे.इस अखबार की एक प्रति का मूल्य 25 सेण्ट है. रविवारीय संस्करण डेढ डॉलर का है, यानि दैनिक से छह गुना. भारतीय मुद्रा में ये राशियां क्रमशः 12 तथा 75 पये बैठती है. मासिक दरें थोडी कम हैं और उस पर भी अक्सर कोई न कोई आकर्षक 'डील' चलती रहती है. बिना किसी स्कीम के अखबार का मासिक मूल्य 15.5 डॉलर यानि 625 पये होता है.

अखबार एक पॉलीथीन की थैली में आता है और करीब-करीब रोज़ ही उसके साथ 10-12 पन्नों के अलग विज्ञापन भी रखे होते हैं. रविवार को यह अतिरिक्त सामग्री 100 पन्नों तक हो जाती है. स्पष्ट कर दूं, यह सामग्री अखबार के अलावा होती है. लगभग उसी तरह जिस तरह भारत में अखबार में रख कर हैण्डबिल वितरित किये जाते हैं. फर्क़ यह है कि यहां यह सामग्री बहुत अधिक आकर्षक होती है. न केवल मुद्रण और प्रस्तुतीकरण में, इस अर्थ में भी कि इनमें बहुत सारे कूपन भी होते हैं जिन्हें खरीददारी करते वक़्त इस्तेमाल कर अच्छी बचत की जा सकती है. यही कारण है कि गृहिणियां इनका इंतज़ार करती हैं. दैनिक अखबार लगभग 70 पेज का तथा रविवारीय लगभग 160 पेज का होता है. ये पृष्ठ अलग-अलग खण्डों में विभक्त होते हैं तथा ये खण्ड अलग-अलग ही मुडे होते हैं, यानि 70 पेज का अखबार 8-10 अखबारों के समूह की मानिन्द होता है.

अखबार के मुख्य खण्ड राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय, स्थानीय, व्यापार, खेल्-कूद, सप्ताहांत, वर्गीकृत विज्ञापन वगैरह होते हैं. कुछ खण्ड दैनिक न होकर साप्ताहिक होते हैं यानि वे सप्ताह में किसी एक दिन प्रकट होते हैं. ऐसे खण्ड हैं मोटरिंग, टैक्नोलॉजी,फूड एण्ड वाइन, यात्रा,

सिनेमा-थिएटर, गार्डनिंग वगैरह. पूरे सप्ताह में कम से कम 4 पेज पुस्तक समीक्षाएं होती हैं. पर कहानी-कविता कभी नहीं होते.

अखबार की सामग्री में खासा वैविध्य होता है. राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर गम्भीर समाचार होते हैं. समाचार और विचार में घालमेल प्रायः नहीं होता. सभी समाचारों में घटना पक्ष पर ज़्यादा बल होता है, कथन पक्ष पर न्यूनतम. हमारे देश की तरह नहीं कि वक्तव्य ही समाचार हो. बडे लोगों के वक्तव्य समाचार में तभी आते हैं जब उनकी कोई खास अहमियत हो. बडे लोग बहुत ज़्यादा स्पेस भी नहीं लेते हैं. अमरीकी राष्ट्रपति की नगर यात्रा का समाचार पूरे पृष्ठ पर नहीं फैला और न पूर्व राष्ट्रपति की मौत के समाचार ने सब कुछ को पीछे धकेला. अंतरराष्ट्रीय समचारों में भारत को बहुत ही कम जगह मिलती है. भारत में आम चुनाव के समय तीन-चार दिन लगातार भारत के समाचार छपे, या फिर कुम्भकोणम त्रासदी के समय. लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यहां भारत की उपेक्षा होती है. असल बात यह कि जब भी इनके लिहाज़ से भारत में कुछ भी महत्वपूर्ण होता है, उसे ये निस्संकोच प्रमुखता देते हैं. अगस्त 04 के पहले सप्ताह में लगातार चार दिन तक मुखपृष्ट पर प्रमुखतम स्थान पर सिएटल टाइम्स के टैक्नोलोजी रिपोर्टर ब्रायर डडली की एक आमुख कथा धारावाहिक छपी- 'Shifting Fortunes:Pain and gain in the global economy' यानि बदलती तक़दीरें उर्फ वैश्विक अर्थव्यवस्था के सुख-दुख. हर कथा-किश्त पूरे अखबार के कम से कम तीन पृष्टों में फैली थी और साथ में थे अनेक रंगीन चित्र. अपने पांच माह के अमरीका प्रवास में इस अखबार में किसी एक प्रकरण को इतनी तवज़्ज़ोह मैने नहीं देखी. कथा में था यह कि वैश्विक अर्थव्यवस्था कैसे भारत की आकृति संवार रही है. हैदराबाद और बंगलौर केंद्रित यह कथा भारत में कम्प्यूटर क्रांति का लगभग गुणगान ही थी. गौरतलब है कि इन दो शहरों ने पिछले कुछ वर्षों में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में खासी उपलब्धियां अर्जित की हैं. कथा में भारत के उन नीति निर्धारकों की उन्मुक्त सराहना की गई जिन्होंने शिक्षा और विकास का आधारभूत ढांचा खडा किया. पूरी कथा पढकर हमें भी अपने भारतीय होने पर गर्व हुआ. लेकिन कथा एक तरफा नहीं थी. इसका एक अमरीकी पक्ष भी था. अमरीका में आउटसोर्सिंग को लेकर एक गम्भीर बहस चल रही है. अमरीकी कम्पनियां अपना बहुत सारा काम तीसरी दुनिया के देशों में करवाने लगी है. यही आउटसोर्सिंग है. अमरीकी जनता के एक वर्ग का खयाल है कि इस कारण अमरीका में रोज़गार की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड रहा है, और इसीलिये यहां इसका विरोध भी है. पर जो इसके समर्थन में हैं वे कहते हैं कि ऐसा नहीं है, साथ ही यह भी कि तीसरी दुनिया में श्रम सस्ता होने की वजह से न केवल

उत्पादन लागत घटती है, तीसरी दुनिया के लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा उठाने का पुण्य भी मिलता है. इस अति-विस्तृत, गवेषणापूर्ण, सकारात्मक आमुख कथा को पढते हुए मुझे लगा कि अखबार,आदमी,कुत्ता और काटना...(वह प्रसिद्ध कथन कि कुत्ता आदमी को काटे तो खबर नहीं होती, खबर तो तब होती है जब इसका उलट हो.)यानि असामान्य, विकृत और नकारात्मक को ही सामने नहीं लाता है, और न सारे समाचार राजनेता बनाते हैं, अखबार के लिये तो इन सितारों से आगे जहां और भी हैं..

सम्पादकीयों में अक्सर अमरीका के अन्दरूनी मामलों पर ही टिप्पणी होती है. बहुत विश्लेषणात्मक तथा संतुलित. अन्य वैदेशिक मामलों पर भी पूरे संयम समझ-बूझ तथा तैयारी के साथ लिखा जाता है. बीच के पन्नों में विशेषज्ञों के उम्दा लेख हर रोज़ पढने को मिल जाते हैं. इन पृष्ठों पर रोज़ ही पाठकों के ऐसे पत्र भी छापे जाते हैं जिनमें समकालीन मुद्दों पर गम्भीर प्रतिक्रियाएं होती हैं. अमरीकी पक्ष की तीखी आलोचना करने वाले पत्रों की संख्या भी कम नहीं होती. यहां अखबार में पाठकों की सहभागिता काफी होती है और इस सहभागिता को अक्लमन्दी के साथ अलग-अलग जगहों पर रखा जाता है; मसलन स्थानीय मुद्दों को अलग जगह, खेल विषयक को अलग, यातायात विषयक को अलग, कला-साहित्य विषयक को अलग, टैक्नोलॉजी विषयक को अलग और नितांत निजी को अलग.

ऐसे बहुत सारे कालम इस अखबार में छपते हैं जिनमें पाठक अपनी समस्याओं/उलझनों की चर्चा कर सम्बद्ध विशेशज्ञ से मशविरा मांगते हैं. ऐसे दो कालम तो बहुत ही लोकप्रिय हैं. एक है 'डीयर एबी'. एबीगेल वान ग्यूरेन लिखित यह सिंडिकेटेड कालम रोज़ छपता है. यह महिला कुछ-कुछ हमारे यहां की एगोनी आण्टी की तरह है. पाठकगण इनसे अपनी निजी उलझनों की चर्चा करते हैं. इन चर्चाओं को पढ़ कर मुझे अमरीकी समाज को ज्यादा अच्छी तरह समझने का अवसर मिला. समस्याएं प्रेमी/पति की बेवफाई, सास के अवांछित हस्तक्षेप, बहिन की उपेक्षा, सहकर्मी के ओछेपन जैसी चीज़ों को लेकर अधिक होती हैं. एबीगेल की सलाहों पर भी पाठकों की प्रतिक्रियाएं छापी जाती हैं. इस कालम को पढकर यह भी पता चलता है कि अमरीकी समाज कितना खुला समाज है, यह भी कि इन लोगों की व्यक्तिगत की परिभाषा क्या है, और यह भी कि ये लोग शिष्टाचार की सूक्षमताओं की कितनी परवाह करते हैं. इसीसे मिलता-जुलता एक स्तम्भ मिस मैनर्स नाम से जूडिथ मार्टिन लिखती हैं. शुरू-शुरू में तो यह स्तम्भ मुझे काफी हास्यास्पद लगा लेकिन धीरे-धीरे इसने मेरे सामने अमरीकी समाज का एक उजला पक्ष उजागर किया. भारत में जिन चीज़ों को हम क़तई तवज्जोह नहीं देते हैं, उनकी बहुत

परवाह ये लोग करते हैं, यह जानकर मुझे इनसे थोडी ईर्ष्या ही हुई.शिष्टाचार विषयक जिज्ञासाएं बहुत दिलचस्प हैं. एक की चर्चा तो मैंने इस पुस्तक में अन्यत्र की भी है. अभिवादन, उपहार, निमंत्रण, बधाई, सम्वेदना जैसे विषयों पर बहुत बारीक सवाल उत्कृष्ट समाज व्यवहार के द्योतक हैं. वैसे भी, यह समाज व्यवहार यहां हर जगह दिखाई देता है.

कला साहित्य संस्कृति के परिशिष्ट (अगर उसे यह नाम दिया जा सके) में नई फिल्मों, किताबों, संगीत समारोहों, कला प्रदर्शनियों, आदि की विस्तृत समीक्षा या चर्चा होती है. यहां की एतद्विषयक सारी गतिविधियों की सूचनाएं भी नियमित रूप से छपती हैं. एक अलग सी बुकलेट में सप्ताह भर के टी वी कार्यक्रमों की सूची और एक अन्य बुकलेट में तमाम सिनेमाघरों, कलावीथियों, होटलों-रेस्टोरेण्टों आदि के बारे में (हर सप्ताह) विवरण छपता है.

खेलकूद के प्रति अमरीकियों का लगाव जगजाहिर है, अतः स्वाभाविक ही है कि स्पोर्ट्स वाले खण्ड में खेल कूद गतिविधियों की सचित्र, विशद चर्चा होती है. ओलम्पिक के दौरान प्रतिदिन लगभग छह पृष्ठ भर विशेष सामग्री अलग से दी जाती रही. वाणिज्य-व्यापार वाले 6 पृष्ठीय अंश में कोई तीन पेज तो शेयर बाज़ार को ही समर्पित रहते हैं, शेष तीन पेज में बडे वाणिज्यिक समाचार होते हैं.इसी खण्ड के अंतर्गत सप्ताह में एक दिन टैक्नोलॉजी विषयक परिशिष्ट आता है जिसमें नए तकनीकी उत्पादों की चर्चा के साथ-साथ विशेषज्ञगण द्वारा पाठकों की तकनोलॉजी विषयक शंकाओं एवम उलझनों का समाधान किया जाता है. बागबानी, मोटरिंग,ज़मीन जायदाद आदि के परिशिष्ट भी इसी तरह के होते हैं. फूड एण्ड वाइन वाले परिशिष्ट में वाइंस पर गम्भीर और चकित कर देने वाली विशेषज्ञतापूर्ण चर्चा होती है. सप्ताह में एक दिन पूरा एक पन्ना स्वास्थ्य चर्चा का होता है. इस पन्ने पर पीपुल्स फार्मेसी शीर्षक कालम में लोगों की दवा विषयक जिज्ञासाओं के उत्तर दिये जाते हैं. यहां दवा की दुकान को फार्मेसी तथा दवा को ड्रग कहा जाता है. हर रोज़ मौसम की सचित्र, विशद चर्चा होती है, अमरीका और पूरी दुनिया के प्रमुख शहरों का तापमान आदि छपता है, और मौसम की भविष्यवाणी छपती है, जो आश्चर्यजनक रूप से सही सिद्ध होती है. भविष्यफल, कॉमिक्स, वर्ग पहेली वगैरह रोज़ छपते हैं.

कुल मिलाकर पूरा अखबार बहुत संतुलित, विशेषज्ञतापूर्ण,वैविध्यभरा होता है. सारा अखबार तो शायद ही कोई पढता हो. इसी बात को ध्यान में रखकर उसे अलग-अलग खण्डों में पेश किया जाता है. मैं तो ज़मीन-जायदाद (Real Estate), बिज़नेस,और स्पोर्ट्स के खण्ड आते ही अलग रख दिया करता था. बिज़नेस का खण्ड उसी दिन देखता था

जिस दिन उसमें तकनोलॉजी की चर्चा होती थी. अन्य पाठक भी अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप ऐसा ही करते होंगे. पर, आप जिस खण्ड को भी देखें, यह अवश्य पाएंगे कि उसे पूरी समझ और तैयारी के साथ तैयार किया गया है. पूरी सामग्री को एक साथ परखें तो उसका वैविध्य चकित व आह्लादित करता है. लगता है, अगर रुचि व फुरसत हो तो इस एक अखबार को ही नियमित रूप से पढकर आप अपने ज्ञान्, सोच व समझ को खासा समृद्ध, उन्नत व परिष्कृत कर सकते हैं.

अखबार के ले-आउट(Lay-out) को लेकर भी समय-समय पर प्रयोग किये जाते हैं. मेरे देखते-देखते भी इसका ले-आउट बदल कर इसे ज़्यादा यूज़र फ्रैण्डली बनाया गया.

इसी अखबार को इण्टरनेट पर भी पूरा पढा जा सकता है. इस मामले में यह हमारे अखबारों से काफी आगे है. हमारे अधिकांश अखबार अभी भी नेट पर अंशतः ही उपलब्ध होते हैं.

अब थोडी चर्चा मुफ्तिया अखबारों की. यहां नमूने के तौर पर मैं 'सिएटल वीकली' को लेता हूं. कुल 124 पेज का यह अखबार करीब-करीब विज्ञापनों से ही भरा है.इस प्रकाशन में कोई 100 पेज शुद्ध विज्ञापन के हैं. साप्ताहिक में वैसे भी आप ताज़ा समाचारों की उम्मीद तो नहीं करते. यहां कुछ छोटे-मोटे लेख हैं और हैं आयोजनों की सूचनाएं. नई फिल्मों, नए संगीत और नई जारी डीवीडीज़(DVDs) की समीक्षाएं हैं. भविष्यफल भी है.

घर, गाडी, फर्नीचर, बागवानी आदि के आम विज्ञापन तो इसमें भरपूर हैं ही, मुझे बेहद चौंकाने वाले विज्ञापन वे लगे जो Women seeking men,Men seeking women,Men seeking men, Swap meet, Adult employment जैसे शीर्षकों के अंतर्गत छपे थे. इन विज्ञापनों में न तो संकेतात्मक शब्दावली थी न कोई दुराव-छिपाव. सीधे-सीधे, एकदम बिन्दास तरह से अपनी ज़रूरत या अपनी सेवा को प्रचारित किया गया था. और भी आगे, कुछ देवियों ने तो अपने चित्र के साथ ही विज्ञापन दे रखे थे. चाहें तो इसे इस समाज की विकृति कह लें. मैं तो इसे प्रशंसनीय खुलापन ही कहूंगा. जो है, है! उसे कोई आवरण देने की क्या ज़रूरत है? क्या हम 'मसाज पार्लर' का असली अर्थ नहीं समझते? फिर, जैसे ये कहते हैं, उसमें क्या बुराई है? पर ऐसे विज्ञापन ज़िम्मेदार अखबारों में नहीं छपते.

अमरीकी अखबार की इस चर्चा को अपनी एक सराहना के साथ समाप्त करना चाहता हूँ. सिएटल टाइम्स में हर रविवार को एक कालम छपता है- Rant and Rave जिसके माध्यम

से आम पाठक अपनी सराहना या निन्दा को अभिव्यक्ति देता है. अगर किसी व्यस्त सडक पर किसी ने गलत तरीके से ओवरटेक किया तो उसकी आलोचना और अगर किसी सूनी सड़क पर आपको परेशान देखकर किसी ने आपकी मदद की तो उसके लिये कृतज्ञता. जिनके लिये यह सब लिखा जाता है, उनके नाम नहीं होते, पर लिखा इस उम्मीद से जाता है कि वे इसे पढेंगे. मुझे लगा, अपने समाज को सजाने-संवारने और उसकी खर-पतवार को साफ करने का यह एक उम्दा तरीका है.

अगर भारत के अखबार भी ऐसा करें तो?

****

एक शहीद दिवस अमरीका में भी

जब से अमरीका की स्थापना हुई है, लगभग 20 लाख स्त्री-पुरुष इसके विभिन्न आदर्शों व हितों की रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति दे चुके हैं. यह कृतज्ञ राष्ट्र साल में कम से कम एक दिन उनको स्मरण कर अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता है. यह एक दिन है मई माह का अंतिम सोमवार. इस दिन ज़्यादातर दफ्तर बन्द रहते हैं और नागरिकों से अनुरोध किया जाता है कि वे अपराह्न तीन बजे कुछ क्षणों का मौन रख कर उन ज्ञात-अज्ञात शहीदों की स्मृति को नमन करें.

इस अवसर को औपचारिक और सरकारी तो नहीं बनाया गया है लेकिन मनाने का तरीका करीब-करीब भारत जैसा ही है. ठीक तीन बजे एक घण्टी बजे, एक मिनिट का मौन रखा जाए और यदि सम्भव हो, TAPS नामक बिगुल गीत या चार्ल्स स्ट्राउस कृत 'ऑन दिस डे' गीत गाया या सुना जाए. यदि कोई इस वक़्त गाड़ी चला रहा हो तो वह अपनी गाड़ी की हेडलाइट्स जला कर भी शहीदों की स्मृति को नमन कर सकता है.

चार्ल्स स्ट्राउस का 'ऑन दिस डे' गीत बहुत मार्मिक है. इसके भाव कुछ इस तरह हैं :

इस दिन कुछ क्षणों के लिये सुनें मौन को.
और याद करें उन्हें जो चले थे हमारे साथ, लेकिन अब नहीं हैं.
लेकिन उनके लिये आंसू न बहाएं,

बल्कि सुनें उनकी हंसी-

क्योंकि ज़िन्दा है उनकी भावनाएं !
स्मृति की रहस्यपूर्ण धारा से हो जाने दें दिलों को गर्वित.

हमें बनाएं विनम्र,
बनाएं जानकार
और मननशील
उसके प्रति जो घटित हो चुका है.

आज, अभी और सदा-सर्वदा-बनाएं इस देश को एक !

देश के लिये प्राणों का उत्सर्ग कर देने वालों को भुला देने के मामले में अमरीका का रिकार्ड भारत से बेहतर नहीं है. मुझ जैसे पिछली पीढ़ी के लोगों को यह जानकर शायद कुछ राहत मिले कि हाल ही में किये गए एक गैलप पोल से ज्ञात हुआ है कि अमरीका के बमुश्किल 28 प्रतिशत लोगों को ही इस मेमोरियल डे की महत्ता की जानकारी है.

एक और बात.

यह शहीद स्मृति दिवस यहां एक और भी रंगत ले गया है. कम से कम मुझे तो यह देखकर अच्छा नहीं लगा कि इस मेमोरियल डे से करीब एक सप्ताह पहले से यहां के अखबारों में 'मेमोरियल डे स्पेशल सेल' के विज्ञापनों की भरमार हो गई थी. मेमोरियल डे को छुट्टी होती है, इसलिये लोगों को अपनी दुकानों की तरफ खींचने के लिये ये विज्ञापन दिये जा रहे थे.

कम से कम भारत में अभी शहीदों के नाम पर कुछ बेचा तो नहीं जाता है.

****

स्वाधीनता का उल्लास

---

4 जुलाई अमरीका का स्वाधीनता दिवस है. यहां भी भारत की तरह दो ही 'राष्ट्रीय' पर्व हैं. स्वाधीनता दिवस तथा शहीद दिवस, जिसे मेमोरियल डे के नाम से भी जाना जाता है और जिसकी चर्चा मैं एक अन्य लेख में कर चुका हूं.

इस बार (2004) स्वाधीनता दिवस रविवार को था. इसलिये स्वाधीनता दिवस का अवकाश अगले दिन यानि सोमवार को किया गया. शनिवार को यहां वैसे भी ज्यादातर कामकाज बन्द रहता है, इसलिये शुक्रवार की शाम से ही वीक-एण्ड का उत्सवी माहौल शुरू हो गया. दुकानों, गैस स्टेशंस वगैरह तक पर सेल्समेन-वुमन 'हैव अ नाइस लोंग वीक-एण्ड' की शुभकामनाएं दे रहे थे.

अमरीका में झण्डे को लेकर उस तरह का पवित्रता का भाव नहीं है जैसा भारत में है. कोई भी, कहीं भी, किसी भी तरह, झण्डे या उसके पैटर्न या उसके अंश का उपयोग कर सकता है. यही आज़ादी थी कि महीने के पहले दिन से ही पूरा माहौल राष्ट्रीय ध्वज-मय नज़र आने लगा था. सडकों पर, दुकानों में, पार्कों में, गाड़ियों में, हर कहीं अमरीकी झंडे दिखाई देने लगे थे.

क्योंकि यह व्यावसायिक समाज है, दुकानदारों ने इण्डिपेंडेंस डे सेल के बडे-बडे विज्ञापन देने शुरू कर दिये थे. अमरीकियों को इस बात में महारत हासिल है कि वे हर प्रसंग को अपना माल बेचने के अवसर में तब्दील कर सकते हैं.

चार जुलाई को यहां वैसा कुछ भी नहीं होता जैसा इसके एक माह ग्यारह दिन बाद भारत में होता है. न राष्ट्र को सम्बोधन, न ध्वजारोहण, न परेड ! यहां आज़ादी का यह दिन भरपूर उत्सव, उल्लास और मौज़-मज़े का दिन है. लोग घर से बाहर निकलते हैं, पिकनिक मनाते हैं. अमरीकी वैसे भी घर से बाहर निकलने और मौज़-मज़ा करने के ज्यादा ही शौकीन होते हैं. ज़रा-सा मौका मिलना चाहिये उन्हें बाहर निकलने का. पूरा तामझाम लेकर निकल पड़ेंगे. जुलाई में तो मौसम भी अच्छा होता है. याद आता है कि हरिशंकर परसाई ने लिखा था कि भारत में स्वाधीनता दिवस भीगता है और गणतंत्र दिवस ठिठुरता है. अमेरिका में धूप और उजास भरा खुला-खुला दिन अच्छा माना जाता है. इस लिहाज़ से इस बार यहां मौसम कुछ ज़्यादा ही उम्दा था. यह भी एक अतिरिक्त कारण था कि सडकों पर गाडियों की रेलम-पेल थी और सारे पार्क,बीच(Beach) और आमोद-प्रमोद के अन्य सभी स्थान उल्लास,उमंग और ज़िन्दगी से लबरेज़ अमरीकियों से खचाखच भरे थे.

स्वाधीनता दिवस का यहां सबसे बडा आकर्षण होता है आतिशबाज़ी का सार्वजनिक प्रदर्शन. वैसे, अमरीका में आतिशबाज़ी पर पूर्ण प्रतिबंध है. दो कारणों से. एक- इससे जान-माल का खतरा पैदा होता है, और दो-इससे होने वाला शोर आपकी व्यक्तिगत स्वाधीनता को आहत करता है. अमरीकी लोग अपनी स्वाधीनता को लेकर बहुत सम्वेदनशील हैं; और यहां का शासन सुरक्षा को लेकर. इसलिये भारत की तरह की आतिशबाज़ी की आज़ादी की तो यहां कल्पना भी नहीं की जा सकती. और इसीलिये, साल में एक बार होने वाली आतिशबाज़ी का महत्वपूर्ण बन जाना स्वाभाविक ही है. आतिशबाज़ी का आयोजन सार्वजनिक तौर पर किया जाता है और उसे देखने के लिये जो भीड़ जुटती है वह बस देखने ही काबिल होती है !

क्योंकि इन दिनों यहां रात देर से होती है, इस बार यहां आतिशबाज़ी का कार्यक्रम रात 10.30 बजे शुरू होना था. पर जिस मेरीमूर पार्क में हम आतिशबाज़ी देखने जाने को थे वहां पार्किंग आठ बजे से ही बन्द हो जानी थी. यह बात अखबारों में भी छप चुकी थी. हम लोग जब चार बजे पार्क पहुंचे तो भी पार्किंग की जगह बमुश्किल ही मिल सकी. और पार्क का नज़ारा ? मुझे तो बाबा तुलसीदास याद आ गये- अवस देखिये देखन जोगू ! बहुत बड़ा पार्क (इतना बडा कि इसी में अमरीका के छ: सबसे बडे वेलोड्रम्स में से एक स्थित है) और उसमें रंग-बिरंगे, या कम, या बहुत ही कम कपड़ों वाले अमरीकी अपनी पूरी गृहस्थी के साथ. चादरें बिछी हैं, टेबल-कुर्सियां लगे हैं, ग्रिल पर बार-बे-क्यू हो रहा है, छोटा बच्चा झूले में झूल रहा है, दो पालतू कुत्ते अपनी अपनी लीश (डोरी) में बंधे इधर-उधर दौड़ लगा रहे हैं, युवा लोग बास्केट बाल जैसा कुछ या फ्रिसबी खेल रहे हैं, और कहना गैर-ज़रूरी है कि यह सारा सामान घर से लाया गया है. मैंने कहा ना, अमरीकियों को पूरी गृहस्थी साथ लेकर चलने का तो जैसे जुनून ही है. सुविधा भी है. बड़ी-बड़ी गाड़ियां और सब कुछ के बाद भी ज्यादा भीड़-भाड़ नहीं क्योंकि जनसंख्या कम है. तो जैसे लोगों ने घर ही बसा रखे थे. सामान हमारे पास भी कम नहीं था. ज्यादा सामान के साथ-साथ अमरीकियों का एक और जुनून चर्चा योग्य है. खाने-पीने का. यह जुनून इतना है कि आपको हर वक़्त, हर जगह, हर इंसान कुछ न कुछ भकोसता ही दिखेगा. भारत में भले ही चलते-फिरते खाना अशिष्टता की श्रेणी में शुमार हो, यहां तो यह जीवन-पद्धति का अंग है. इसलिये एक हाथ में बर्गर या हॉट डॉग (गर्म-कुत्ता !) तथा दूसरे में कोक या कॉफी लेकर चलने वालों को ढूंढने की ज़रूरत नहीं, बकौल शायर, एक ढूंढो हज़ार मिल जाते हैं. तो, पार्क में भी खाना-पीना पूरे शबाब पर था. पीने को लेकर यहां कोई अपराध बोध नहीं है. पर उसे लेकर कोई बड़ी ललक या

असहजता भी यहां देखने को नहीं मिलती. हां, अठारह वर्ष से कम वाले नहीं पी सकते, कम से कम सार्वजनिक तौर पर. यहां पार्क में मदिरा के स्टॉल्स भी थे. पर वहां पहुंचने से पेश्तर एक सरकारी अफसर के सामने से गुज़रना होता था. वह आपकी वयस्कता को पहचान कर (और यदि कोई सन्देह हो तो प्रमाण मांगकर) आपके हाथ में एक परमिट-पट्टी बांध देता था. उसे दिखाने पर ही मदिरा क्रय की जा सकती थी. मदिरा का उपभोग करते समय भी इस पट्टी का हाथ पर होना ज़रूरी था. इस छोटे-से सरकारी प्रतिबंध के सिवा सब तरह की आज़ादी थी. यहीं लगे हाथ यह भी बता दूं कि अमरीका में 18 वर्ष से कम के लोग सिगरेट भी नहीं खरीद सकते.

तो, खाना-पीना मौज -मजा चल रहा था. सामने एक लाइव बैण्ड पॉप म्यूज़िक की धूम मचा रहा था. लोग अपने-अपने में खोये भरपूर आनन्द ले रहे थे. यहां का समाज अपने में पूरी तरह मगन रहता है (पता नहीं इसके लिये वह गगन वनस्पति खाता है या नहीं), न वह आपकी ज़िन्दगी में दखल देता है, न अपनी ज़िन्दगी में कोई दखल सहन करता है. यही कारण है कि पार्क में 'चाहे जैसे' कपड़े पहने स्त्री-पुरुष भी भरपूर थे पर उनकी तरफ ध्यान देने की फुरसत या इच्छा किसी को नहीं थी.

इस सबमें स्वाधीनता दिवस था तो केवल इतना कि किसी का टी शर्ट झंडे का था, किसी की चादर, किसी का तौलिया, किसी की टोपी.

रात ठीक साढे दस बजे आकाश रंग-बिरंगी आतिशबाज़ी से नहा उठा. हर चमक पर तालियां या हर्ष-ध्वनि की गुंजार. आतिशबाज़ी ठीक-ठाक थी. सच कहूं, भारत की आतिशबाज़ी को स्मरण कर मैं थोड़ा निराश ही हुआ. जो कलात्मकता और कल्पनाशीलता हमारी आतिशबाज़ी में होती है, वह यहां नहीं थी. पर सब लोग (जिनमें हम भी शरीक थे) इस आतिशबाज़ी का भरपूर मज़ा ले रहे थे. स्याह रात, यानि घना अंधेरा और रंग-बिरंगे फूलों या तारों या तीरों से भर-भर जाता आकाश और हर प्रस्तुति पर ज़मीन से उठता प्रशंसा और उल्लास का आह्लादक शोर. अमरीकी लोग प्रशंसा करने में क़तई कंजूस नहीं हैं. वे बहुत खुलकर दाद दे रहे थे, और इससे उनका अपना उल्लास भी दोगुना-चौगुना हो रहा था.

तो, ऐसा था अमरीकी आज़ादी का उत्सव.

बल्कि, असल आज़ादी का उत्सव तो था ही यही. आपकी आज़ादी की सीमा कहां तक है और दूसरे की आज़ादी की सीमा कहां से शुरू होती है, यह जान लेना और इसका खयाल

रखना - इससे बड़ी आज़ादी और क्या हो सकती है? इस समाज ने यह पाठ बहुत अच्छी तरह न केवल पढ़ लिया है, इसे आत्मसात भी कर लिया है.

****

एक पुस्तकालय के भीतर

भारत में अकादमिक मंचों पर प्रायः यह चर्चा और चिंता की जाती है कि नई तकनीक पुस्तकालयों को एकदम अप्रासंगिक कर देगी. वैसे तो पुस्तकों पर मण्डराने वाले खतरों की चर्चा इलेक्ट्रोनिक संचार माध्यमों के आगमन के साथ ही शुरू हो गई थी, क्योंकि इन माध्यमों ने पुस्तकों के अस्तित्व को कई तरह से चुनौती दी थी. पाठक के समय पर कब्ज़ा चुनौती का एक पहलू था, नए-नए आए छोटे पर्दे का आकर्षण दूसरा, चीज़ों की सजीव प्रस्तुति तीसरा...... बारीक स्तर पर इन माध्यमों ने भोक्ता के सोच व ग्रहण में जो बदलाव किये उससे बहुत सारा लिखित व मुद्रित फीका लगने लगा. लेखक ने अपनी तरह से भी इस चुनौती से टकराने की चेष्टाएं कीं. उसने अपने लेखन का तरीका भी थोडा बदला. लेखन और पुस्तक इस चुनौती से जूझ ही रहे थे कि तकनीक का एक और बड़ा करिश्मा उससे भी बड़ी चुनौती के रूप में आ खड़ा हुआ. दुनिया का बहुत सारा ज्ञान इण्टरनेट पर आ गया. इसने तो भारी भरकम किताब और उसके विशाल संग्रहों यानि पुस्तकालयों को बेमानी सिद्ध करने में कोई कसर ही नहीं छोड़ी. कोई क्यों अपने घर में 24 ज़िल्दों वाला एनसाइक्लोपीडिया रखे? उसे देखने के लिये पुस्तकालय भी क्यों जाये? डिक्शनरी भी क्यों घर में रखे? माउस क्लिक करे और इच्छित जानकारी कम्प्यूटर के स्क्रीन पर पढ़ ले. अगर ज़रूरत हो, उसका प्रिण्टआउट भी निकाल ले. किताब और किताबघर की ज़रूरत ही खत्म!

लेकिन हर क़िताब केवल सूचना ही तो नहीं होती. और अगर कुछ के लिये हो भी तो क़िताब को हाथ में लेने का सुख, किसी शब्द, वाक्य या पंक्ति को पढ़ते हुए रुक कर सोचने का सुख, कागज़ की सतह को छूने का सुख, कागज़ और स्याही की गंध में खो जाने का सुख -- इन सबका विकल्प और कुछ हो ही कैसे सकता है? छोड़िये ये सब. भावुकता की बातें हैं. आज की ज़मीनी हक़ीक़त के सामने इनकी कोई अर्थवत्ता नहीं है.

इस तरह की ऊहापोह चलती रहती है. व्यावहारिक लोग कहते हैं, किताब और लाइब्रेरी खत्म भी हो जाए तो क्या हर्ज़ है! और पुस्तक प्रेमी इस कल्पना पर ही मुंह लटका लेते हैं. अतीत का मोह कम प्रबल नहीं होता.

अभी पिछले दिनों आकाशवाणी की एक परिचर्चा में हम इसी मुद्दे पर बहस कर रहे थे कि क्या इण्टरनेट और इसी तरह की अन्य तकनीकें पुस्तकालय को पूरी तरह खत्म कर देंगी? भारत में पुस्तकालयों की दशा वैसे भी ज़्यादा अच्छी नहीं है. दशा तो पुस्तकों की भी कहां अच्छी है? छोटे शहरों की तो छोड़िये, बड़े शहरों में भी आपको ऐसी दुकान नहीं मिलेगी जहां आप मनपसन्द किताब ढूंढ सकें. दरअसल किताब की या किसी भी अन्य वस्तु की दुकान आपको खरीदने का ही नहीं, देखने का भी सुख देती है. आप सब्ज़ी बाज़ार जाएं और खरीदें भले ही ज़्यादा न, पर हरी-भरी, ताज़ी, रंग-बिरंगी सब्ज़ियों के रंग-रूप-गंध का साहचर्य आपको एक खास तरह का सुख प्रदान करता है. किताब की दुकान में भी ऐसा ही होता है. खरीदें आप भले एक ही क़िताब(या एक भी नहीं) पर सैकड़ों-हज़ारों किताबों के बीच होने का, उन्हें देखने-छूने का सुख अवर्णनीय होता है. बशर्ते ऐसी दुकान हो! दुकान न सही, पुस्तकालय ही सही. बल्कि वहां तो यह अपराध बोध भी नहीं होता कि इतनी देर में कुछ भी नहीं खरीदा. लोकलाज में खरीदने की विवशता भी नहीं होती. पर भारत में आर्थिक कटौती की गाज़ सबसे पहले पुस्तकालय पर ही गिरा करती है. बार-बार पुस्तकालयों के बजट में कटौती कर हमने उन्हें लगभग निष्प्राण ही बना डाला है. जन चेतना के अभाव की वजह से इसका कोई प्रतिरोध भी नहीं हुआ है. सार्वजनिक पुस्तकालय ही नहीं, शिक्षण संस्थाओं के पुस्तकालय भी इस नासमझी भरी कटौती के शिकार हुए हैं. राजस्थान के महाविद्यालयों में, जहां मैंने अपनी लगभग पूरी ज़िन्दगी बिताई, आज पुस्तकालयों की जो दशा है, उसे देख सिर्फ सर ही धुना जा सकता है. बिना पुस्तकालय किसी उच्च शिक्षण संस्थान की कल्पना भी नहीं की जा सकती, पर मेरे राज्य में यह अजूबा भी चल रहा है.

बहरहाल.

जब अमरीका आया तो मन में यह भी था कि देखूं यहां पुस्तकालयों का क्या हाल है? इस देश में तो इण्टरनेट का खासा प्रचलन है. अगर इण्टरनेट ही कारण हो तो यहां पुस्तकालय मर ही चुका होगा. कम्प्यूटर आम है, इण्टरनेट की स्पीड बहुत उम्दा है, लोगों

के पास फुरसत नहीं है, भाग-दौड़ की और चमक-दमक भरी और थोड़ी विलासितापूर्ण ज़िन्दगी है. ये सब बातें पुस्तकालय को खत्म कर देने के लिये काफी हैं.

कुछ ऐसे ही खयालात मन में थे, जब मैं यहां अमरीका में एक पुस्तकालय में गया.

रेडमण्ड रीजनल लाइब्रेरी नामक यह पुस्तकालय किंग काउण्टी लाइब्रेरी सिस्टम (KCLS) की 43 शाखाओं में से एक है. ये शाखाएं पूरे इलाके में फैली हैं तथा सूचना तकनीक के माध्यम से आपस में जुड़ी हैं. इस केसीएलएस के पास 40 लाख आइटम्स (किताबें,पत्रिकाएं,समाचार पत्र,पैम्फलेट्स,ऑडियो-वीडियो टेप्स, सीडी,वीसीडी,डीवीडी,एलपी आदि-आदि) का वृहद संग्रह है. संग्रह की सम्पूर्ण सूची इण्टरनेट पर उपलब्ध है और स्वभावतः कई तरह से वर्गीकृत है.

मैं बात रेडमण्ड रीजनल लाइब्रेरी की कर रहा था. एक बहुत भव्य, सुरुचिपूर्ण और सुविधाजनक इमारत में स्थित यह पुस्तकालय मानो आपको अपनी तरफ खींचता है. हरियाली, खुलापन और टॉनी एंजेल का प्रतीकात्मक मूर्ति-शिल्प-'विज़डम सीकर्स' (जिज्ञासु!) आपका स्वागत करते हैं. इस मूर्ति-शिल्प में एक विशालकाय ग्रेनाइट शिला पर चार कौए विराजमान हैं. पाश्चात्य मिथक में कौए को जिज्ञासु और बुद्धिमान पक्षी माना जाता है. इस प्रस्तर शिल्प में तीन कौए एक धरातल पर हैं - अलग-अलग दिशाओं में देखते हुए, और चौथा कौआ उनसे नीचे है, उन्हें देखता हुआ. तीन कौए कहीं से भी ज्ञान प्राप्त करने को तत्पर हैं और चौथा कौआ इस बात का सूचक कि हमें ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिये.

कोई भी नागरिक अपनी पहचान का प्रमाण देकर पुस्तकालय की सदस्यता ले सकता है. सदस्य बन जाने पर उसे एक कार्ड मिल जाता है जो क्रेडिट कार्ड जैसा होता है. इस कार्ड पर अनगिनत सामग्री प्राप्त की जा सकती है. पुस्तकें 28 दिन के लिये, पत्रिकाएं 7 दिन के लिये. शेष सामग्री की भी अलग-अलग समय सीमा है. यहीं यह बता दूं कि पुस्तकालय से सीडी,वीसीडी,टेप-कुछ भी ले जाया जा सकता है. विलम्ब होने पर जुर्माना अदा करना होता है. जुर्माना राशि आपके खाते में लिख दी जाती है, आप सुविधानुसार कभी भी जमा करा सकते हैं, यानि तुरंत जमा कराना ज़रूरी नहीं है. पुस्तकालय में लगभग 50 कम्प्यूटर हैं जिन पर अपनी पसन्द की किताब/पत्रिका/अन्य सामग्री की तलाश की जा सकती है. यह काम इण्टरनेट के ज़रिये अपने घर से भी किया जा सकता है. घर से ही आप किसी भी किताब या सामग्री को(और ज़रूरी नहीं कि वह सामग्री इसी

रेडमण्ड पुस्तकालय की हो, वह केसीएलएस की 43 शाखाओं में से किसी की भी हो सकती है) आरक्षित (Hold) करा सकते हैं. जब वह सामग्री रेडमण्ड पुस्तकालय में आ जाती है तो आपको ई-मेल या फोन से सूचित कर दिया जाता है तथा पुस्तकालय में वह सामग्री आपके नाम की पर्ची के साथ अलग रख दी जाती है. इसी तरह की सुविधा केसीएलएस की तमाम शाखाओं में सुलभ है. पुस्तकालय में बैठ कर तो पढ़ा ही जा सकता है. अत्यधिक सुविधाजनक टेबल कुर्सियां तथा समुचित प्रकाश व्यवस्था है. अगर ज़्यादा किताबें वगैरह ले जानी हों तो वहीं उपलब्ध हाथ-ठेले(Cart) का इस्तेमाल किया जा सकता है. सामग्री घर ले जाने के लिये पॉलीथिन की थैलियां सुलभ रहती हैं.

सारी सामग्री आप खुद ही इश्यू करते हैं. पहले ऑप्टीकल रीडर के सामने अपने सदस्यता कार्ड को लायें, इससे आपका खाता खुल जाता है. फिर एक-एक कर इश्यू करने वाली सामग्री के बार कोड को इस ऑप्टीकल रीडर के सामने लाते जाएं. बस! कोई चौकीदार नहीं, कोई गिनती नहीं. अमरीकी समाज में वैसे भी आपकी ईमानदारी पर पूरा विश्वास किया जाता है. सामग्री का लौटाना तो और भी आसान है. पुस्तकालय के बाहर लैटर बॉक्स नुमा बक्से बने हैं. उनमें आप सामग्री डाल दें और हो गया काम.

मैंने पहले भी कहा, यहां से पुस्तकें, पत्रिकाएं, कैसेट्स,सीडी,वीसीडी,डीवीडी कुछ भी घर ले जाया जा सकता है. मैंने महज़ जिज्ञासा से देखा तो पाया कि कोई 200 हिन्दी फिल्मों की डीवीडी यहां मौज़ूद हैं. कई ऐसी हिन्दी फिल्में मैं यहां देख पाया जिनके लिये भारत में तरसता ही रहा था, जैसे श्याम बेनेगल की 'अंतर्नाद' या सत्यजित रे की अनेक फिल्में. पण्डित रविशंकर वगैरह का संगीत भी यहां भरपूर मात्रा में है. मुझे यहां अपने राजस्थान का लोक संगीत तक मिल गया : लंगा और मांगणियार. पाश्चात्य फिल्मों और संगीत वगैरह का तो मानों खज़ाना ही भरा पडा है. भारतवंशी ज़ुबीन मेहता की संगीत रचना भी मैं यहां से लेकर सुन पाया. बीथोवन वगैरह का भी बहुत सारा कृतित्व यहां सुनने को मिला.

पुस्तकालय आपको अपनी ई-मेल चैक करने की सुविधा भी देता है. यह कतई ज़रूरी नहीं है कि आप पुस्तकालय के सदस्य हों तभी इस सुविधा का उपयोग कर सकते हैं. गैर सदस्य, मसलन प्रवासी/यात्री भी पूरे अधिकार के साथ इस सुविधा का लाभ उठा सकते हैं. यहां पुस्तकालय को एक सामाजिक सेवा प्रदाता के रूप में भी चलाया जाता है.

यह भी सोच है कि इस तरह की सेवा से और अधिक लोग पुस्तकालय की ओर आकृष्ट होंगे.

पुस्तकालय में रिप्रोग्राफी की पर्याप्त और समुचित सुविधा है. जो भी सामग्री आपको चाहिये, उसकी फोटोकॉपी करलें. कम्प्यूटर पर कोई सामग्री आपके काम की है तो उसका प्रिण्ट आउट निकाल लें.

इस लाइब्रेरी को देख कर लगा कि कम्प्यूटर और इंटरनेट पुस्तकालय के शत्रु नहीं, सहायक हैं. इन्होंने तो पुस्तकालय सेवा का विस्तार ही किया है. इनके माध्यम से तो ज्ञान के विशाल भण्डार में से अपने काम की चीज़ ढूंढना बेहद आसान हो गया है. इण्टरनेट ने पुस्तकालयों की आपसी और आपसे उनकी दूरी भी समाप्त कर दी है. तकनीक ने यह भी सम्भव बनाया है कि यदि आप पुस्तकालय तक न जा सकें तो अपने घर बैठे ही पुस्तकालय की सेवाओं का लाभ उठा लें. समय की भी बन्दिश खत्म. आपको रात के बारह बज़े फुरसत मिली है तो उस वक़्त भी आप पुस्तकालय से जुड़ सकते हैं. अब आप ही बतायें, अगर ऐसी लाइब्रेरी हो तो भला कौन उसका बार-बार उपयोग न करना चाहेगा?

इतना ही नहीं, लाइब्रेरी के एक कोने में एक वेण्डिंग मशीन भी लगी है जिसमें सिक्के डाल कर कॉफी या शीतल पेय वगैरह खरीदे जा सकते हैं, और उसकी चुस्की लेते-लेते पढा जा सकता है. कॉफी या कोक पीते हुए पढ़ना अमरीकी जीवन पद्धति का अंग है. उसकी सुविधा पुस्तकालय जुटाता है.

पुस्तकालय में घुसते ही आपका सामना नई आई पुस्तकों के रैक से होता है. इस रैक की किताबों को हर दूसरे-तीसरे दिन बदला जाता है. इण्टरनेट पर भी नई आई किताबों की सूचना अलग से उपलब्ध होती है. पुस्तकालय में नई फिल्में और नया संगीत भी लगातार आता है और यहां के न्यूज़ लैटर में तथा इण्टरनेट पर बाकायदा उसकी सूचना दी जाती है.

पुस्तकालय का काम इतना ही नहीं है. यहां रचना पाठ, लेखक से मिलिये, पुस्तक चर्चा, पुस्तक/चित्र/कलाकृति प्रदर्शनी आदि के कार्यक्रम लगातार चलते रहते हैं. ये कार्यक्रम इतने ज़्यादा और इतनी नियमितता से होते हैं कि इनकी सूचना के लिये एक मासिक न्यूज़ लैटर प्रकाशित किया जाता है. पुस्तकालय एक उम्दा कार्यक्रम और चलाता है. इसका नाम है 'रीडिंग रिवार्डस' (Reading Rewards) यानि पढने का पुरस्कार. 18 वर्ष से

अधिक की वय का कोई भी पाठक एक छोटा-सा फॉर्म भरकर और अपनी ताज़ा पढी किताब पर अपनी छोटी-सी टिप्पणी लिखकर इस कार्यक्रम का सदस्य बन सकता है. फिर पूरे एक साल में उसे 50 किताबें पढकर उन पर अपनी टिप्पणियां देनी होती हैं. इतना कर देने पर उस पाठक को पुरस्कृत किया जाता है. उसकी लिखी टिप्पणियों को मुद्रण तथा इण्टरनेट के माध्यम से प्रकाशित भी किया जाता है. पुस्तकालय एक और उम्दा सेवा करता है. कोई भी पाठक या नागरिक अपनी पढ़ी हुई पुस्तक या पुस्तकें पुस्तकालय को भेंट कर सकता है. पुस्तकालय उन्हें रियायती दामों पर बेचकर अपनी आय में वृद्धि कर लेता है. इस प्रयास में आय से ज़्यादा महत्व इस बात का है कि आप पुस्तकालय से संलग्नता महसूस करते हैं, साथ ही जो पढ़ने के शौकीन हैं उन्हें कम दाम पर पुस्तक मिल जाती है. अगर यह सुविधा न होती तो पुस्तक वैसे भी कचरे के मोल ही जाती. इस तरह की सेवाएं देकर पुस्तकालय अपने को नागरिकों के निकट लाता है.

मुझे यह देखकर बहुत सुखद आश्चर्य हुआ कि यह पुस्तकालय दिन के हर वक़्त पाठक-पाठिकाओं से लगभग भरा रहता है. और भी ज़्यादा खुशी इस बात से हुई कि इन पाठक-पाठिकाओं में भारतीय भी खूब होते थे.

क्या हमारे देश में ऐसे पुस्तकालय नहीं हो सकते?

****

रोगी की दशा उत्तम है[1] !

अमरीका में मनुष्य जीवन को कितना महत्वपूर्ण माना जाता है, यह चर्चा मैं एकाधिक स्थलों पर कर चुका हूं. जहां कहीं भी आपको खतरा हो सकता है, 'सावधान' के संकेत अवश्य लगाये जाते हैं. अगर फर्श धोया गया है और आपके फिसल जाने का खतरा है तो 'सावधान' का बोर्ड न लगाया जाये, यह कल्पनातीत है. बच्चों के खिलौनों पर, दवा की शीशियों पर, घरेलू उपकरणों पर, वाहनों में, दुकानों के स्वचालित दरवाजों पर, यानी जहां ज़रा भी ज़रूरत हो, सावधान रहने की चेतावनी ज़रूर दी जाती है. ‘सावधानी हटी, दुर्घटना घटी' में यह समाज पूरा-पूरा विश्वास करता है.

ऐसे समाज में अगर कोई बीमार हो जाये तो ?

अमरीकी चिकित्सा व्यवस्था को भी नज़दीक से देखने का मौका मिल ही गया.

यहां आने के बाद से ही ऐसा लग रहा था कि मेरा रेस्टरूम जाना बढ गया है. रेस्टरूम भारतीय प्रसाधन का अमरीकी संस्करण है. पहले रात को इस निमित्त एक बार उठता था अब चार-पांच बार उठना पडता है. फिर जाने कैसे एक दिन याद आया कि कुछ ऐसे ही लक्षणों की वजह से जयपुर में मेरे मित्र डॉक्टर मनोहर प्रभाकर को प्रोस्टेट एन्लार्जमेण्ट विषयक ऑपरेशन कराना पड़ा था. यह भी याद आया कि कदाचित मुझे भी यह शिकायत कोई एक साल से है. ध्यान यहां आकर गया. चिंतित होना अस्वाभाविक नहीं था. एक दिन पत्नी से अपनी चिंता की चर्चा की. साथ-साथ इंटरनेट पर गूगल सर्च में प्रोस्टेट एन्लार्जमेण्ट के बारे में पड़ताल की.

यह इंटरनेट भी क्या चीज़ है ! सारी दुनिया का ज्ञान आपकी उंगलियों का गुलाम बना कर रख दिया गया है. सर्च एंजिन आपके लिये इतनी सारी सूचनाएं लाकर रख देते हैं कि बस ! काफी कुछ पढ़ लिया. लगा कि सारे लक्षण उसी के हैं.

उधर पत्नी ने चारु से चर्चा कर दी. और चारु, हमारी बेटी ! वैसे तो बेटियां होती ही ऐसी हैं पर हमारी बेटी तो कुछ ज्यादा ही 'ऐसी' है. अपने मां-बाप की जैसी चिंता वह करती है वैसी, मुझे तो लगता है, शायद ही कोई और बेटी करती होगी. मेरा खयाल तो यह था कि यह समस्या कोई बड़ी समस्या नहीं है, भारत लौटकर इसका उपचार करा लूंगा, लेकिन उसने चुपके-से ही (अगर मुझे बताती तो मैं मना कर देता - ऐसा उसे डर था) हम लोगों के एक डॉक्टर मित्र से चर्चा कर ली.

डॉक्टर पंकज राजवंशी और उनकी पत्नी डॉक्टर आरती राजवंशी मेरे ससुराल पक्ष की ओर से हमारे रिश्तेदार हैं. पर पहली मुलाक़ात उनसे पिछली बार यहाँ आने पर ही हुई. फिर वे लोग और चारु-मुकेश बहुत नज़दीक आ गये. पंकज और आरती बहुत मज़ेदार युगल हैं. पंकज को टेक्नोलॉजी,कला,राजनीति,भ्रमण और जाने किन-किन चीज़ों में गहरी दिलचस्पी है और आरती जैसे जीवंतता का खज़ाना है. इसी 4 जुलाई (2004) को इन दोनों को यहां की नागरिकता मिल गई है.

तो, एक शाम ये राजवंशी दम्पती घर आये, पंकज ने मेरा परीक्षण किया, लम्बी चर्चा की, कुछ रक्त परीक्षण वगैरह करवाने को कहा.

अगले ही दिन मुकेश मुझे रक्त परीक्षण के लिये ले गये. डायग्नास्टिक सेंटर वालों को पंकज ने पहले ही फोन कर दिया था. आप सीधे परीक्षण नहीं करवा सकते - जैसे भारत में लैब में जाकर करवा लिया करते हैं. डॉक्टर का निर्देश यहां ज़रूरी होता है. जहां हमें जाना था, वह जगह घर से कोई 30-40 मील दूर थी. बहुत शानदार (यह भी अल्पकथन ही है) बहुमंज़िला इमारत की पांचवीं मंज़िल पर (लिफ्ट से) पहुंचे. रिसेप्शनिस्ट को अपना नाम बताया - भारतीय नामों को समझने में इन लोगों को दिक्कत होती है इसलिये ए जी आर ए डब्ल्यू ए एल करके बताया. भद्र महिला ने कार्ड निकाला - डॉक्टर पंकज के फोन करते ही कार्ड बना दिया गया था. मुकेश ने बता दिया कि मेरा कोई इंश्योरेंस नहीं है (ज्यादातर अमरीकियों का होता है, भुगतान सीधे इंश्योरेंस कम्पनी से ही हो जाता है), अतः शुल्क का भुगतान मुकेश ने अपने क्रेडिट कार्ड से कर दिया.

मुझे परीक्षण कक्ष में ले जाया गया. पहले मूत्र परीक्षण. फिर रक्त परीक्षण. एक कुर्सी पर बिठाकर पेट के आगे लगभग वैसा ही अवरोधक लगा दिया गया जैसा हमारे यहां झूलों में सुरक्षा के लिये लगाया जाता है. सौम्य भद्र महिला (नर्स!) मीठी-मीठी बात करती जा रही थी. बांह पर पहले रबड़ की एक डोरी बांधी, फिर मुट्ठी में एक गेंद देकर उसे दबाने को कहा (ताकि नस उभर आये), फिर स्पिरिट से नस के आसपास की जगह साफ की. जब एक बड़ी-सी सिरिंज और बड़ी-सी शीशी उसने हाथ में ली, तो मैंने घबराकर पूछा कि क्या इतना सारा खून निकालेंगी, और उसने मुझे आश्वस्त किया कि नहीं, बस, थोड़ा-सा ही लेंगी. भद्र महिला वाकई भद्र थीं. सुई इतनी धीरे-से चुभाई कि बस मुझे यही पता चला कि खून लिया जा चुका है. फिर जहां सुई चुभाई थी वहां एक सुरक्षा पट्टी चिपकाई, और विदा.

निश्चय ही इस लैब ने भारी राशि ली होगी. पर जो व्यवस्था, जो सफाई, जो शालीनता, जो शिष्टाचार था वह मेरे लिये कल्पनातीत था. भारत के लिहाज़ से. मुकेश ने मुझे बताया कि अंतर महंगे-सस्ते का नहीं है. सेवा का स्तर हर जगह यही होता है.

वहां से रिपोर्ट पंकज को भेज दी गई. अगले दिन पंकज का फोन आया कि यद्यपि और कोई कॉम्प्लिकेशन नहीं है (मसलन यूरीन इंफेक्शन, डायबिटीज़, किडनी मालफंक्शन वगैरह) पर मुझे दवा तो लेनी ही होगी. और उन्होंने दवा भी भिजवा दी. इसके बाद भी हर दूसरे-तीसरे रोज़ फोन करके पंकज मेरा हाल चाल पूछते रहे.

दस बारह दिन बाद पंकज को लगा कि दवा का अपेक्षित असर नहीं हो रहा है. उन्होंने दो सलाहें दीं. एक, मैं एक और ब्लड टेस्ट करवा लूं, दो, एक यूरोलॉजिस्ट को भी दिखा लूं. दोनों की व्यवस्था भी उन्होंने कर दी. ब्लड टेस्ट पहले की ही तरह हो गया. लैब हालांकि उतनी बड़ी और भव्य इमारत में नहीं थी पर सावधानी, सफाई और सुव्यवस्था में किसी भी तरह कम नहीं थी. यानि, मैं यह मानने को बाध्य हुआ कि ये गुण यहां की व्यवस्था में ही अंतर्निहित हैं.

लैब ने दूसरे ही दिन रिपोर्ट डॉ. पंकज को भिजवा दी. बकौल पंकज, सब कुछ ठीक था. पर यूरोलॉजिस्ट से तो मिलना ही था. पंकज ने न केवल अपने एक मित्र डॉक्टर नरेंद्र सूद का नाम सुझाया, उनसे बात भी कर ली. इसी हवाले से मुकेश ने डॉक्टर सूद के दफ्तर में फोन करके अपाइंटमेंट भी ले लिया. यहां यह ज़रूरी है. यह नहीं कि जब भी आपका मन (या सुविधा) हो आप डॉक्टर के पास चले जायें. अपाइंटमेंट मिला कोई 15 दिन बाद का.

दूसरे ही दिन डॉक्टर सूद के कार्यालय से एक मोटा लिफाफा आन पहुंचा. इसमें अपाइंटमेंट की सूचना तो थी ही, उनके क्लिनिक तक पहुंचने का विस्तृत निर्देश भी था. यहां यह ज़रूरी भी है. सड़कों पर यातायात की गति तीव्र होती है - आप हर कहीं गाड़ी नहीं रोक सकते. और रोक कर होगा भी क्या? किससे पूछेंगे कि भाई साहब, गली नम्बर 13 किधर है? कोई भाई साहब (या बहन जी) पैदल तो होंगे नहीं. सड़क पर नज़र आती है बस गाड़ियां और गाड़ियां. पैदल चलते आदमी के दर्शन बड़े भाग्य से ही नसीब होते हैं. तो, विस्तृत मार्ग-निर्देश भेजना यहां की व्यवस्था का अंग है. सड़कों की नम्बर व्यवस्था, भवनों पर नम्बर का अंकन और मार्ग चि सब इतने सुस्पष्ट, मानकीकृत और सुनिश्चित होते हैं कि आप प्रदत्त निर्देश के सहारे बिना भटके कहीं भी पहुंच सकते हैं. किसी गंतव्य का मार्ग ढूंढने का एक और तरीका कम्प्यूटर भी है. कम्प्यूटर में अपनी लोकेशन और गंतव्य का पता फीड कीजिये और पूरा नक्शा हाज़िर, जिसमे यह तक अंकित होगा कि आपको यह दूरी तै करने में कितना समय लगेगा. अब तो गाड़ियों में भी जी. पी. एस.(Global Positioning System)आने लगे हैं जो आपकी यात्रा को और भी सुगम बना देते हैं. डॉक्टर पंकज के घर हम पहली बार कम्प्यूटरजी से रास्ता पूछ कर ही पहुंचे थे. कम्प्यूटर ने यात्रा का समय 35 मिनिट बताया था और ठीक 35 वें मिनिट पर हम जिस घर के सामने थे वह पंकज का था. पर यह सब कम्प्यूटर का ही चमत्कार नहीं है. नगर नियोजन की भूमिका भी इतनी ही अहम है. गलियों की नम्बर व्यवस्था (यहां उनके नम्बर ही होते हैं, नाम नहीं) बहुत

व्यवस्थित, योजनाबद्ध, मानकीकृत वैज्ञानिक और तर्कसंगत है. इसलिये अगर आप गली नम्बर 138 तक पहुंच गये हैं तो यह निश्चय मानिये कि अगली गली 139 ही होगी. यही हाल मकानों का भी है. कोई मकान बिना नम्बर का नहीं होता और नम्बर व्यवस्था भी उतनी ही तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक होती है.

लेकिन फिर भी मैं तो भटक ही गया हूं! बात चिकित्सा व्यवस्था की कर रहा था, ज़िक्र रास्तों का करने लगा. फिर अपनी राह पकड़ता हूँ.

डॉक्टर सूद के मोटे लिफाफे में कुछ प्रपत्र थे जिनमें मुझे अपने बारे में, अपनी सेहत के बारे में, अपनी आदतों के बारे में सवालों के जवाब देने थे. इन प्रपत्रों को मैंने भर लिया. प्रसंगवश, फिर यह बता दूं कि यह सब भी यहां की व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग है. कुछ ही दिनों बाद विमला को भी ऐसा ही अनुभव हुआ. हुआ यह कि उसकी एक डाढ़ का एक छोटा-सा टुकड़ा टूट गया. बचा हुआ तीखा हिस्सा गाल को भीतर से आहत करने लगा. बहुत छोटा-सा मामला था. किसी डेण्टिस्ट के पास जाकर डाढ़ के नुकीले हिस्से को थोडा-सा घिसवा लेना था. पर यहां कोई शॉर्ट-कट नहीं होता. तीन पेज भर सवालों के जवाब तो देने ही पड़े. उसके बाद एक्स-रे भी. बहरहाल.

निर्धारित तिथि को नियत समय पर चारु मुझे लेकर डॉक्टर सूद के अस्पताल पहुंची. हां,एक दिन पहले डॉक्टर सूद के कार्यालय से फोन आ गया था कि अगले दिन इतनी बजे हमारा अपाइण्टमेण्ट है. ऐसा यहां हमेशा किया जाता है. हमारा अपाइण्टमेण्ट 1.15 बजे का था. 1.15 पर जब हम रिसेप्शनिस्ट के सामने पहुंचे तो उसने प्रश्नसूचक निगाहों से देखते हुये सवाल किया- 'डूरगा एगरवाल'? यहां भारत की तरह नामों को संक्षिप्त करने (दुर्गाप्रसाद=डीपी) का रिवाज़ नहीं है इसलिये पूरे नाम का ही प्रयोग करना होता है और भारतीय नाम स्वभावत: इन लोगों को अटपटे लगते हैं.

रिसेप्शनिस्ट महिला ने भुगतान के बारे में रस्मी सवाल पूछे, हमने बता दिया कि हमारा कोई इंश्योरेंस नहीं है. वह हमें बिल थमाने को ही थी कि उसकी एक सहकर्मी ने आकर उससे कुछ गुफ्तगू की. (उसने कहा कि डॉक्टर सूद का निर्देश है कि हमसे फीस न ली जाए). यह पंकज की करामात थी.

डेस्क की औपचारिकताओं के बाद मुझे अन्दर भेजा गया. पहले मूत्र परीक्षण. रेस्ट रूम में जाने को कहा गया. वहां सेम्पल देने के लिये एक साफ सीलबन्द शीशी, हाथ वगैरह धोने के लिये साबुन युक्त टिश्यूज़ रखे हुए थे तथा कैसे क्या करना है की बाबत विस्तृत

निर्देश दीवार पर अंकित थे. शालीनता का तकाज़ा है कि मैं उन निर्देशों की चर्चा यहां न करूं, लेकिन इतना संकेत अवश्य कर दूं कि इन सारे निर्देशों का असल मक़सद यही था कि जो सेम्पल आप दें वह एकदम शुद्ध हो, यानि उसमें किसी भी तरह का बाह्य संक्रमण न हो. कहना अनावश्यक है, भारत में, आम तौर पर, ऐसी सावधानी नहीं बरती जाती है. स्टील की एक छोटी-सी खिड़की में निर्धारित स्थल पर सेम्पल रख कर बाहर आया तो मुझे रक्त परीक्षण के लिये कुर्सी पर बिठा दिया गया और वही सारी प्रक्रिया दुहराई गई जिसका वर्णन मैं पहले भी कर चुका हूं.

इसके बाद मुझे एक परीक्षण कक्ष में ले जाया गया. एक दीवार पर प्रोस्टेट विषयक चार्ट टंगे थे. एक बन्दा, थोड़े लम्बे बालों वाला, आया. हंस कर अपना परिचय दिया कि डॉक्टर सूद का सहायक हूं; मेरा रक्तचाप, नब्ज़ परीक्षण किया और चला गया. कोई दस मिनिट बाद एक अजीब-सी चीज़ पर सवार एक अधेड़ भारतीय पुरुष कमरे में आये. यह अजीब-सी चीज़ एक व्हील चेयर, स्टूल और स्कूटर का संकर अवतार थी और इस पर आरूढ़ सज्जन डॉक्टर सूद थे. दिल्ली के डॉक्टर सूद वर्षों से अमरीका में हैं और घुटने में लगी चोट की वजह से इस अजूबे का इस्तेमाल करते हैं.

यहीं फिर एक प्रसंगांतर करना पड़ रहा है.

अमरीकी समाज में विकलांग दया, सहानुभूति या हिकारत के नहीं बल्कि विशेष तवज्जोह के पात्र माने जाते हैं. हर पार्किंग स्थल पर दरवाजे के ठीक पास वाली जगह विकलांगों की गाड़ियों के लिये आरक्षित होती है और रिक्त होने पर भी अन्य लोग उसका इस्तेमाल कर ही नहीं सकते, यानि विकलांग न हो तो वह जगह खाली ही रहेगी. भारी-भरकम दरवाज़ों के निकट विकलांगों की सहायता के लिये एक बटन होता है, जिसे दबाने पर दरवाज़ा खुद-ब-खुद खुल जाता है. अन्यों को काफी ताकत लगाकर, धकेल कर यह दरवाज़ा खोलना पड़ता है. हर फुटपाथ पर व्हील चेयर के
चढ़ाने-उतारने के लिये एक डिप (dip) होता है, हर इमारत में व्हील चेयर के लिये अलहदा रैम्प होता है. एक दृश्य तो मेरी स्मृति में जैसे चिपक ही गया है. हम लोग खिलौनों की प्रसिद्ध दुकान 'टॉयज़ आर अस' (जिसे मैं मज़े में टॉय सारस कहने लगा हूं) गये थे. चारु और विमला अन्दर चले गये, मैं गाड़ी में ही बैठा रहा. देखा, एक बड़ी-सी कार आकर की. आगे का दरवाज़ा खुला, दो हाथों ने पहले एक पहिया नीचे रखा, फिर फोल्डेड व्हील चेयर, फिर उसे खोला, फिर दूसरा पहिया, फिर तीनों को जोड़ा और व्हील चेयर तैयार हो गई. इसके बाद कोई पचासेक बरस का एक गोरा

आहिस्ता-से कार की ड्राइविंग सीट से फिसल कर व्हील चेयर में बैठा, कार का दरवाज़ा बन्द किया. पीछे का दरवाज़ा खोला, चार-पांच साल की एक बच्ची फुदकती हुई बाहर आई. दरवाज़ा बन्द किया, रिमोट से कार को लॉक किया और व्हील चेयर पर विराजित सज्जन तथा उनके पीछे-पीछे वह बच्ची दुकान में चले गये. कोई पंद्रह मिनिट बाद यही दृश्य फिर दुहराया गया, विपरीत क्रम में. इस बार सज्जन ने गाड़ी का ट्रंक भी खोला (ट्रंक, यानि डिक्की). खरीदा हुआ सामान उसमें रखा. भरपूर आत्म विश्वास, कहीं आत्म-दया का कोई भाव नहीं, उसकी एक हल्की-सी झलक तक नहीं. वाह अमरीका!

फिर अपनी राह पर आता हूं.

डॉक्टर सूद मेरे पास आने से पहले मेरे सारे परीक्षणों की रिपोर्टों का अध्ययन कर चुके थे. इसीलिये उन्हें आने में दस मिनिट लगे. कुछ इधर-उधर की बातें की, ताकि मैं सहज हो जाऊं, और फिर मेरे रोग की चर्चा. भारत में हम होमियोपैथिक चिकित्सकों का खूब मज़ाक उड़ाते हैं कि वे सवाल पर सवाल पूछ कर ही आपको इतना तंग कर डालते हैं कि आपको अपना रोग छोटा लगने लगता है. पर ये डॉक्टर सूद तो उनके भी पिताश्री निकले. बाप रे बाप! क्या-क्या सवाल नहीं पूछ डाले. कोई आधा घण्टा. पूरी तसल्ली से. पूरी आत्मीयता से. एक दम अनौपचारिक सहजता से. कोई जल्दबाजी नहीं, बड़प्पन के आतंक का कोई बोझ नहीं. जैसे डॉक्टर न हों, बरसों पुराने दोस्त हों. फिर देह परीक्षण, फिर सवाल.

और अंत में यह कि मेरी आशंका निर्मूल है. ज्यादा सम्भावना यह है कि प्रोस्टेट में ऐसे किसी संक्रमण की वजह से, जो परीक्षणों में भी पकड़ में न आ पाता हो, थोड़ी सूजन हो. इसके लिये बहुत हल्की-सी दवा लेना पर्याप्त होगा.

डॉक्टर सूद के पास से लौटते हुए मैं बेहद आश्वस्त था. उनका व्यवहार, उनकी व्यावसायिक दक्षता, उनकी सिंसियरिटी (हिन्दी में क्या कहेंगे इसे?) ने मुझे आश्वस्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी.

कुछ दिनों बाद डॉक्टर सूद के कार्यालय से एक मोटा लिफाफा आया जिसमें वह सारा विवरण अंकित था जो उन्होंने मुझसे चर्चा करके प्राप्त किया था, थे उनके निदान तथा वे अन्य सारी बातें ज़िनकी भविष्य में कभी भी इलाज़ करवाते हुए मुझे ज़रूरत पड़ सकती है. यह था चिकित्सा का पूरा प्रोफेशनल अन्दाज़ !

मैं सोच रहा था, भारत में भी मुझे ऐसा ही अनुभव हो, इसके लिये कितने वर्ष प्रतीक्षा करनी होगी ?....

****

1. इस लेख का शीर्षक मिर्ज़ा गालिब के प्रसिद्ध शेर 'उनके देखे से जो आ जाती है...' के पण्डित द्वारिका प्रसाद मिश्र द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद के अंश से, साभार.

   पूरा अनूदित शेर इस तरह है:
   उनके दर्शन से जो आ जाती है मुख पर आभा
   वो समझते हैं कि रोगी की दशा उत्तम है !

ज़िन्दगी के साथ भी, ज़िन्दगी के बाद भी ![1]

अमरीकी समाज में इंसानी जान को कितनी अहमियत दी जाती है, इसकी चर्चा मैं एकाधिक बार कर चुका हूं. अस्पताल में तो रोगी पर पूरा ध्यान दिया ही जाता है, पूरी की पूरी जीवन पद्धति ही ऐसे सांचे में ढाल दी गई है कि जिन-जिन-बातों से आपकी जान को खतरा हो, उन पर यथासम्भव नियंत्रण किया जाए. यातायात विभाग सतत प्रयास करता है कि दुर्घटनाएं कम हों, सड़कों पर यातायात इस तरह नियंत्रित व संचालित किया जाता है कि तेज़ गति के बावज़ूद दुर्घटनाओं की आशंका न्यूनतम रह गई है. पत्र-पत्रिकाओं में, संचार माध्यमों में लगातार खतरों के निवारण पर चर्चा होती है और सलाहें दी जाती हैं.

मनुष्य की आज़ादी को यहां बहुत महत्व दिया जाता है. प्रजातंत्र है भी यही कि हरेक को अपनी तरह से जीने का अधिकार मिले. लेकिन यह अधिकार जीवन के साथ ही क्यों समाप्त हो जाए? उसके बाद भी क्यों न बरक़रार रहे ?

शायद इसी सोच को आगे बढ़ाते हुए अमरीकी समाज और कानून व्यक्ति को यह अधिकार भी प्रदान करता है कि वह अपनी अंतिम सांस कैसे ले! मेडिकल टैक्नोलॉजी

ने मनुष्य को अनेक विकल्प दे दिये हैं कि वह जीवन बचाने कि लिये कैसे और कितना संघर्ष करे. कानून उसे अधिकार भी देता है कि वह जीवन रक्षक यंत्रों, दवाइयों, सुईयों, मॉनीटर्स आदि से बंधा- घिरा अंतिम सांस ले या सब कुछ ऊपर वाले के हाथ छोड़, बिना संघर्ष और प्रतिरोध के मृत्यु का वरण कर ले. अमरीकी समाज तो मनुष्य को यह अधिकार भी देता है कि यदि वह चाहे तो अंतिम समय में अस्पताल में जाए ही नहीं, या ले जाया ही न जाए.

यहां लोगों को सलाह दी जाती है कि वे बुढ़ापे का इंतज़ार किये बगैर एक सम्पूर्ण दस्तावेज़ समूह तैयार करें जिसमें यदि वे 'उस' समय अपनी बात कह सकने में असमर्थ भी हों तो उनकी इच्छा का पालन करने की गरिमा बरती जा सके. इस दस्तावेज़-समूह में एक 'ड्यूरेबल पॉवर ऑफ अटर्नी फॉर हेल्थ' (Durable power of attorney for health-DPOA) होता है जो किसी व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान करता है कि आपके बोल न पाने की स्थिति में आपकी ओर से चिकित्सा विषयक निर्णय ले. इसी के साथ एक निर्देश चिकित्सक के नाम होता है कि आप अपनी जीवन रक्षा के लिये किन-किन उपायों का इस्तेमाल करना या नहीं करना चाहते हैं. इसे ज़िन्दा वसीयत भी कहा जा सकता है. आपकी इन बातों का अक्षरशः पालन हो, इसके लिये लोगों को यह सलाह दी जाते है कि यदि वे गम्भीर रूप से बीमार हैं तो एक अन्य फॉर्म (जिसे POZSTकहा जाता है) पर भी हस्ताक्षर कर व कराकर रखें. वस्तुतः यह चिकित्सक द्वारा प्रतिहस्ताक्षरित आदेश होता है जो आपके निर्णय की पूर्ण पालना को वैधता प्रदान करता है. अगर यह फॉर्म बाकायदा भरा हो तो मृत्यु के बाद , सन्दिग्धावस्था में की जाने वाली पुलिस कार्रवाई से निज़ात मिल जाती है.

अमरीकी समाज भारतीय समाज से बहुत अलग है. इसीलिये यहां बूढे मां-बाप की परवाह के लिये सलाह देने वाली किताबें भी काफी लिखी-छापी-बेची जाती हैं. और, इस विषय पर ही क्यों, यहां तो हर विषय को ही सिद्धांत का जामा पहना दिया जाता है. बच्चे कैसे पालें, दादा-दादी,नाना-नानी क्या करें-क्या न करें से लेकर दादा-दादी नाना-नानी के लिये क्या करें तक सब कुछ. वर्जीनिया मॉरिस की एक बहुत प्रसिद्ध किताब है - 'बूढे मां बाप की देखभाल कैसे करें.' इस किताब में यह तक बताया गया है कि यदि बूढा/बुढ़िया स्वर्ग सिधार जाए तो हड़बडाहट की कोई ज़रूरत नहीं है. आप चाहे तो रोएं, चाहे तो स्वर्गीय का हाथ थाम कर उनसे मौन सम्वाद करें, चाहे प्रार्थना करें. ये सारी सलाहें किताब में हैं.

जो लोग किसी असाध्य रोग से ग्रस्त होते हैं और जिनके जीवन के चन्द ही दिन शेष बचे होते हैं उनके लिये यहां एक अलग सेवा- Hospice भी सुलभ है. यह सेवा न तो ज़िन्दगी को बढ़ाने का प्रयास है न मौत को नज़दीक लाने का. इस सेवा में यह अवधारणा निहित है कि जितनी भी ज़िन्दगी बची है उसे गरिमापूर्वक तथा सम्बद्ध व्यक्ति की इच्छानुसार बिताने दिया जाए. महत्वपूर्ण बात यह है कि इस सेवा को केवल अंतिम सांसें गिन रहे व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रखा गया है. उसके परिवार जन को भी इसमें शामिल किया गया है. जयपुर के संतोकबा दुर्लभजी अस्पताल वालों की अवेदना आश्रम सेवा से कुछ-कुछ साम्य रखती यह सेवा प्रशिक्षित स्वयंसेवकों के माध्यम से अत्यधिक सम्वेदनशील तरीके से व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी ज़रूरतों को पूरा करने की सर्वांगपूर्ण सेवा व्यवस्था है.

मृत्यु के बाद पुलिस (911) को फोन किया जाता है. पुलिस आती है पूरी गरिमा के साथ. बिना चमचमाती लाल लाइटों और बिना सायरन बजाते. अन्यथा स्थिति में चमचमाती लाल बत्ती और बजता हुआ सायरन आम है. लोगों को यह भी बताया जाता है कि पुलिस इस कॉल को इमर्जेंसी नहीं मानती है, इसलिये उसके आने में किंचित विलम्ब भी हो सकता है. देखिये है न बड़ी बात! पुलिस को बुलायेंगे तो उसका तुरंत आना निश्चित है. थोड़ा विलम्ब भी होना है तो आपको बताकर ही होना है. यदि पुलिस आश्वस्त है कि मृत्यु स्वाभाविक है तो वही स्वर्गस्थ व्यक्ति के चिकित्सा अधिकारी तथा मेडिकल एक्ज़ामिनर्स ऑफिस से सम्पर्क कर मृत्यु प्रमाण पत्र तैयार कराएगी. अंतिम संस्कार के लिये यहां व्यावसायिक प्रतिष्ठान (Funeral homes) होते हैं.परिवार जन को उनसे सम्पर्क कराने में भी पुलिस ही मदद करती है. यह है पुलिस की असल 'मेरे योग्य सेवा' भूमिका.

मुझे बड़ी बात यह लगती है कि यह समाज जीवन की ही नहीं, जीवन के बाद की चिंता भी उतनी ही शिद्दत से करता है.

****

---

1. शीर्षक भारतीय जीवन बीमा निगम के विज्ञापन से, साभार!

जिन वेगस नहीं वेख्या...

उर्फ

लास वेगस रहेगा याद[1]

वायुयान ने जैसे ही मैक-कैरन के छोटे-से हवाई अड्डे से उड़ान भरी, नीचे रंग-बिरंगी रोशनी का आंचल लहराने लगा. यह एक ऐसा दृश्य था जिसे मैं जब भी याद करूंगा, वाणी और शब्दों की असमर्थता महसूस करूंगा. रोशनियां थीं लास वेगस की, जहां तीन दिन बिताकर हम सिएटल लौट रहे थे. सचित्र पत्रिकाओं-किताबों में और टीवी-फिल्म के पर्दे पर इन रोशनियों को पहले भी देखा था और यह भी जाना सुना था कि लास वेगस जगमगाता है, पर जगमगाहट ऐसी होगी यह तो कल्पना से परे ही था. मुझे तो उद्धव वाले सूरदास बुरी तरह याद आ रहे थे: 'एक हुतो सो गयो श्याम संग....'. मेरा मन तो वेगस के पास ही रह गया था.

वायुयान काफी ऊपर उठ चुका था. रोशनियां धीरे-धीरे एक बिन्दु में तब्दील होकर अंधेरे में विलीन होने को थीं और मैं सोच रहा था....

सोच रहा था कि अगर चारु-मुकेश के लास वेगस भ्रमण के प्रस्ताव को स्वीकार न किया होता तो मैं कैसे अनुभव से वंचित रह गया होता! वायुयान काफी ऊपर उठ चुका था. रोशनियां धीरे-धीरे एक बिन्दु में तब्दील होकर अंधेरे में विलीन होने को थीं और मैं सोच रहा था....

जब इन लोगों ने कहा कि हम किसी सप्ताहांत लास वेगस घूम आयें, तो सच कहूं, मैं क़तई उत्साहित नहीं था. लास वेगस के बारे में जितना जानता था उससे मुझमें वहां जाने की कोई ललक नहीं थी. ऐसा शहर जो अपने जुआघरों (Casinos)के लिये विख्यात है, भला मुझे कैसे आकृष्ट करता? मुझे तो ताश तक खेलना नहीं आता. दिलचस्पी ही नहीं है. कभी दिवाली पर रस्म अदायगी तक के लिये भी जुआ नहीं खेला. मुझे भला लास वेगस क्यों जाना चाहिये? चारु ने बताया कि वहां बड़े-बड़े होटल हैं. खूब दर्शनीय! मैं सोचता रहा, होटल का क्या देखना? अपने उदयपुर का लेक पैलेस, जयपुर का क्लार्क्स आमेर, दिल्ली का अशोका और मुम्बई का ताज देखा तो है. आखिर होटल में होगा क्या? वही लॉबी, स्विमिंग पूल, शॉपिंग आर्केड वगैरह ना? हुंह! यह भी मन में था कि तीन दिन

करेंगे क्या? ऊपर से यह जानकारी भी कि लास वेगस नेवाडा के घोर रेगिस्तान में है, इन दिनों बेतहाशा गर्मी पड़ रही है वहां. बेटी-दामाद ने लास वेगस की स्ट्रिप की तारीफ की, फ्रेमोण्ट स्ट्रीट का गुणगान किया, रोशनियों की तारीफ की. मैं, कुए का मेंढक, अपने उदयपुर-जयपुर की गलियों-बाज़ारों की दिवाली की रोशनी को सजावट की पराकाष्ठा मानता हुआ इनकी बातों से खास उत्साहित नहीं हुआ.

पर अब मन ही मन इस बात पर अपनी पीठ थपथपा रहा था कि बहुत अच्छा किया जो न जाने की ज़िद्द पर न अड़ा. अगर न गया होता, जीवन के एक अद्वितीय तथा अविस्मरणीय अनुभव से वंचित ही रह गया होता. लास वेगस जाकर ही महसूस किया कि शब्दों और तस्वीरों से आगे भी बहुत कुछ होता है. सब कुछ को अभिव्यक्त कर देने की सामर्थ्य इनमें भी नहीं है. जो आपकी आंखें देख सकती हैं वह कोई और आप तक पहुंचा ही नहीं सकता. तभी तो बाबा तुलसीदास कह गये हैं- 'गिरा अनयन, नयन बिनु वाणी', यानि जिह्वा देख नहीं सकती और नयन देख सकते हैं पर बोल नहीं सकते. उस फिल्मी गीत में भी तो यही बात है - 'ना ज़ुबां को दिखाई देता है, ना निगाहों से बात होती है'.

आखिर ऐसा क्या था लास वेगस में कि मुझे असगर वज़ाहत के प्रसिद्ध नाटक 'जिस लाहौर नहीं देख्या, ओ जनम्या ही नहीं' से अपने इस लेख का शीर्षक उधार लेना पड़ गया?

सारी दुनिया लास वेगस आती है. जिस हवाई अड्डे से हम लास वेगस पहुंचे थे वह विश्व का 12 वां व्यस्ततम हवाई अड्डा है. पिछले वर्ष कोई साढ़े तीन करोड़ लोग इस हवाई अड्डे से वेगस आये थे (मज़े की बात यह कि वेगस की अपनी आबादी महज़ पांच लाख है!). लास वेगस को विश्व की मनोरंजन राजधानी (Entertainment Capital of the World) कहा जाता है. लास वेगस में चौबीसों घण्टे वह नज़ारा रहता है जो हमारे देश में कुछ-कुछ दिवाली की शाम 8-9 बजे रहा करता है. यानि चकाचौंध और ऐसी भीड़-भाड़ कि बस सर ही सर दिखाई दें, ज़मीन नहीं. इस शहर की पूरी अर्थव्यवस्था पर्यटन, मनोरंजन और जुआघरों पर टिकी है. लास वेगस निश्चय ही कैसिनोज़ यानि जुआघरों का शहर है. शेष सब कुछ उन्हीं के इर्द-गिर्द बुना गया है. जुआघरों का आलम यह कि हवाई अड्डे पर उतरते ही लाउंज में सबसे पहले आपका सामना स्लॉट मशीनों (जिनमें सिक्के डाल कर किस्मत आजमाई जाती है) से ही होता है. हर होटल में जुआ खेलने की बे-इंतिहा(यानि हज़ारों) मशीनें लगीं हैं. किसम-किसम की, और अलग-अलग दरों तथा इनामों वाली.

न्यूनतम दर 25 सेण्ट (डॉलर की चवन्नी, साढ़े बारह रूपये के बराबर) और अधिकतम? जितना आप सोच सकें उससे भी कई गुना ज़्यादा! केवल स्लॉट मशीनें ही नहीं, रूलट भी (जिनमें गोलाकार में एक चक्र घूमता है), और ब्लैक जैक टेबल्स भीं. पोकर टेबल्स भीं, और भी इसी तरह का बहुत सारा तामझाम. ऐसे दृश्य हम सबने हिन्दी फिल्मों में ज़रूर ही देखे हैं. मशीनों और टेबलों पर जुटे स्त्री-पुरुष. खेलने वालों के हाथों में सिगरेट,सिगार, बीयर, वाइन या कोई और ड्रिंक. खेलने वालों को ड्रिंक मुफ्त. ड्रिंक सर्व करती हुई चुस्त वेट्रेसेज़ - इतने कम कपडों में कि आपको अपनी कल्पना को ज़रा भी ज़हमत न देनी पड़े. वेट्रेसेज़ की सज-धज होटल की थीम के अनुरूप, यानि पेरिस में फ्रेंच और लक्सर में मिश्री. कैसिनो में पूरा उन्मुक्त वातावरण, पर अमरीका के इस कानून का अक्षरशः पालन कि 18 वर्ष से कम के लोग जुआ नहीं खेल सकते. इस हद तक पालन कि गोद के शिशु को लेकर भी आप किसी मशीन या टेबल के पास नहीं रुक सकते. हम दर्शक थे, नव्या(4 माह) जिसकी भी गोद में होती उसे बस चलते रहना होता था, एक क्षण भी कहीं रुके नहीं कि कोई न कोई सुरक्षाकर्मी आकर टोक देता. कानून का उल्लंघन करने पर सज़ा का प्रावधान है, और हमने देखा कि खुद होटल वाले भी कानून का पालन करने-कराने में पूरी-पूरी दिलचस्पी रखते हैं. निश्चय ही ये कैसिनो लास वेगस के सबसे बड़े आकर्षण हैं. दुनिया भर से लोग अपनी किस्मत आज़माने यहां आते हैं और अगर विभिन्न जुआघरों में लगे सूचना पट्टों पर विश्वास करें तो ज़ीरो से सुपर हीरो बनकर लौटते हैं. लेकिन वेगस का सारा आकर्षण इन जुआघरों तक ही सीमित नहीं है.

लास वेगस का असल आकर्षण तो है 'द स्ट्रिप' (The Strip) यानि वह लम्बी सड़क जिसके दोनों तरफ कोई 36 होटल बने हैं. अब होटल कहने सुनने से जो तस्वीर मन में बनती है, बराय महरबानी उसे एकदम से मिटा दीजिये. जब मैं कहूं 'होटल', आप सुनिये 'शहर'. जी हां, इनमें से हरेक होटल अपने आप में एक शहर ही है, वह भी मुख्तलिफ मुल्क का. इतना विशालकाय कि अगर आप पूरा दिन उसमें भागते-दौड़ते घूमें तो भी देखने को बहुत कुछ बचा ही रह जाए. इनमें से हर होटल किसी एक थीम (Theme) पर निर्मित है. जैसे लक्सर मिश्र के पिरामिड्ज़ की थीम पर तो अलाद्दीन (जिसमें हम ठहरे थे) अरेबियन नाइट्स पर; एम जी एम ग्रैण्ड हॉलीवुड के इसी नाम के प्रसिद्ध स्टूडियो के आधार पर तो सीज़र्स पैलेस जूलियस सीज़र के जीवन और समय पर. पेरिस और न्यूयार्क-न्यूयार्क के नाम ही उनकी थीम का खुलासा कर देते हैं. इसी तरह हर होटल को बनाया-बसाया गया है. जब आप पेरिस होटल में घुसते हैं तो सब कुछ फ्रांस जैसा होता है- गलियां, उनके नाम, दुकानें, होटलों के मेन्यू, व्यंजन, सर्व करने वाले बैरों की वेशभूषा,

यहां तक कि जुआ खेलने की मशीनें भी फ्रांस की ही विभिन्न चीज़ों के आधार पर. और यह साम्य इतना आगे तक जाता है कि पेरिस का आइफेल टावर भी यहां लाकर खड़ा कर दिया गया है. उसकी खिलौना प्रतिकृति नहीं (वे तो स्मृति चिह्नों की दुकानों में बिकती ही हैं) बल्कि पूरी 50 मंज़िला, 540 फिट ऊंची हू-ब-हू आइफेल टावर. वैसे यहीं यह बता दूं कि असली टावर की ऊंचाई इससे करीब दुगुनी यानि 1051 फीट है. एक पारदर्शी एलिवेटर 340 फीट प्रति मिनिट की रफ्तार से आपको इस टावर के लगभग शीर्ष (500 फिट) पर ले जाता है और वहां से लास वेगस का जो नज़ारा आप देखते हैं, वह आपको कहने को विवश कर ही देता है-'जिन वेगस नहीं वेख्या..' उस दृश्य को शब्दों में बयान किया ही नहीं जा सकता. जगमगाती स्ट्रिप और चमचमाते होटल. पर ये शब्द तो बहुत मामूली हैं, जबकि नज़ारा निहायत ही गैर-मामूली है. इस पेरिस होटल में 2916 कमरे हैं.

जिस होटल अलाद्दीन में हम ठहरे, उसकी विशालता का कुछ अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उसमें 2567 कमरे थे, एक लाख वर्ग फीट में फैला कैसिनो था जिसमें 2800 स्लॉट मशीनें, और 87 टेबल गेम्स थे. इस होटल में दुनिया भर के सभी तरह के व्यंजन परोसने वाले 16 रेस्टोरेण्ट, स्विमिंग पूल, हेल्थ क्लब, स्पा तो थे ही, थी कोई 130 चमचमाती दुकानें भी. होटल का 'अलाद्दीन थिएटर फॉर द परफार्मिंग आर्टस' दावा करता है कि उसका प्रोसीनियम आर्च मंच विश्व का विशालतम है. होटल के एक भाग को नाम दिया गया है डेज़र्ट पैलेस यानि मरु महल. इसमें जब आप घूमते हैं तो अचानक वर्षा होने लग जाती है. चमत्कार यह कि पैलेस की पूरी छत कृत्रिम है. स्वभाविक ही है कि वर्षा भी कृत्रिम ही होती है, पर असली से भी ज़्यादा असली. अंधेरा छाता है, बादल गरज़ते हैं, बिजली कड़कती है, बूंदें आपको भिगोती हैं. इसी अलाद्दीन होटल में जो अनेक शो रोज़ होते हैं उनमें स्टीव वायरिक का जादू बहुत प्रसिद्ध है. खासा महंगा टिकिट, पर शो एकदम पैसा वसूल! हमने देखा. खेल तो करीब करीब वही जो हमारे यहां के जादूगर दिखाते हैं, लेकिन प्रस्तुति उनसे हज़ार गुना बेहतर. ध्वनि प्रकाश का आधुनिकतम उपयोग. और इन्हीं से सारे प्रभावों का सृजन. खेल में दर्शकों की सहभागिता भी. शो के टिकिट के साथ ड्रिंक मुफ्त.

हर होटल में ऐसे शो होते हैं. कुछ बा-टिकिट, कुछ बे-टिकिट. होटल बैली में हर रात दो बार एक 'जुबली शो' होता है जिसमें 2000 गैलन पानी में टाइटेनिक जहाज़ डूबता है. होटल सीज़र्स पैलेस में 'अटलाण्टिस का पतन'(Fall of Atlantis) शीर्षक निशुल्क शो होता है जिसमें एटलस की संतानों का अटलांटिस पर नियंत्रण के लिये संघर्ष चित्रित किया

जाता है. आदमकद से कोई तीन गुना बडी प्रतिमाएं और ध्वनि-प्रकाश की विस्मय-विमुग्धकारी कलाकारी. एकदम हाई-टेक! इसी तरह 3000 कमरों वाले होटल बेलाजियो में एक शो होता है - 'ओ' नाम का. टिकिट एक सौ डॉलर, पर उसके लिये भी प्रतीक्षा कई घण्टों की. कोई 90 मिनिट का यह शो 80 से ज़्यादा अंतरराष्ट्रीय कलाकार, जिनमें तैराक, करतबबाज़ सभी होते हैं, पेश करते हैं. यह शो जीवन-प्रेम और मृत्यु की मानो महागाथा ही है.

एम जी एम ग्रैण्ड होटल, जिसमें 5034 कमरे हैं और जिसे दुनिया का सबसे बड़ा होटल माना जाता है, में सब कुछ एम जी एम स्टूडियो की मानिन्द है. होटल के बाहर ही एक बडा स्वर्णिम शेर बना हुआ है, जो एम जी एम का सुपरिचित प्रतीक है. भीतर बहुत सारी चीज़ों के अलावा एक लॉयन हेबिटाट (Lion habitat) भी है जहां दो ज़िन्दा शेर कांच की एक 34 फिट ऊंची छत पर अपने ट्रेनर के साथ अठखेलियां करते रहते हैं और आप नीचे से उन्हें देखते हैं. जब आप 4408 कमरों वाले लक्सर होटल में जाते हैं तो आप महज़ होटल में नहीं बल्कि एक 30 मंज़िला कांच के पिरामिड में घुसते हैं. इस होटल में प्राचीन मिश्र के रहस्य को आधुनिक तकनोलॉजी के माध्यम से सजीव किया गया है. अन्दर की सारी दीवारें यही एहसास कराती हैं कि आप मिश्र में हैं. तूतनखामन की क़ब्र भी यहां है. होटल में एक आइमेक्स (I-Max) थिएटर भी है जिसका पर्दा 68 फिट लम्बा और 48 फिट चौड़ा है. इसी होटल में एक अन्य थिएटर में हमने 4 आयामी (4 dimensional) फिल्म देखी. 2 आयामी फिल्में तो सारी ही होती हैं, तीन आयामी फिल्में भी कभी-कभार बन जाती है (जैसे हिन्दी की 'छोटा चेतन' या हाल की 'आबरा का डाबरा') पर यह चौथा आयाम कहां से आ गया? मन में बडी उत्कण्ठा थी जानने की. ऐसी फिल्मों में कथा का ज़्यादा महत्व नहीं होता. यह कथा समुद्री डाकुओं की थी. तीन आयाम तो सुपरिचित ही थे. डाकू ने बन्दूक तानी तो जैसे वह हमारी ही कनपटी से आकर लगी, मधुमक्खियां हमारे कानों के बिल्कुल पास आकर भिनभिनाईं. लेकिन ये तो तीन ही आयाम हुए. जब किसी ने पानी में छलांग लगाई तो समुद्र से जो पानी उछला, उसने हमें भी, वाकई, भिगोया. जब एक पहाड़ी से लुढकता हुआ विशालकाय पत्थर ज़मीन पर गिरा तो हम भी थरथराए. भीगना और थरथराना-ये ही थे चौथे आयाम. सीटों के नीचे फव्वारे लगे थे और उन्हें कंपाने का प्रबंध था. इस होटल में 'मिडनाइट फैंटेसी' नाम से एक टॉपलेस शो भी होता है. वैसे डांस, कैबरे वगैरह हर होटल में होते ही हैं.

जूलियस सीज़र के नाम वाला 2399 कमरों वाला होटल सीज़र्स पैलेस अपनी क्लासिक रोमन भव्यता की वजह से होटल कम और असल साम्राज्य ज़्यादा लगता है. इसके

फोरम शॉप्स नामक बाज़ार में दुनिया के तमाम कीमती और बेहतरीन उत्पाद देखे-खरीदे जा सकते हैं. इस होटल के एक शो की चर्चा मैं थोडा पहले कर ही चुका हूं. 2023 कमरों वाले होटल न्यूयार्क-न्यूयार्क में जाकर लगता है कि आप वाकई न्यूयार्क ही पहुंच गये हैं. होटल के बाहर आपका स्वागत करती है सुपरिचित स्टेच्यू ऑफ लिबर्टी और भीतर जाते हैं तो देखते हैं एम्पायर स्टेट बिल्डिंग, टाइम्स स्क्वायर, सेंट्रल पार्क वगैरह. इस होटल का एक बड़ा आकर्षण है न्यूयार्क हारबर की प्रतिकृति पर बना रोलर कोस्टर - मैनहट्टन एक्सप्रेस. 67 मील प्रति घण्टा की रफ्तार वाला यह रोलर कोस्टर इतनी कलाबाज़ियां खाता है कि आपका कलेजा मुंह को आने लगता है.

इतने सारे होटलों की चर्चा के बाद भी होटल वेनेशियन की चर्चा किये बगैर अधूरापन महसूस हो रहा है. 4049 कमरों वाले इस होटल में नहरों, गोण्डोला (छोटी नाव) और घूमते फिरते प्रदर्शनकारी कलाकारों के माध्यम से तो वेनिस को साकार किया ही गया है, जैसे ही आप प्रवेश करते हैं, इसकी छतों पर यूरोपीय कला के सर्वश्रेष्ट की बानगी देती हुई सुनहरी कलमकारी आपको मंत्र मुग्ध कर देती है. इस होटल का एक बडा आकर्षण है सेण्ट पीटर्सबर्ग, सोवियत रूस के विख्यात हर्मिटाज संग्रहलय की शाखा - गगनहाइम हर्मिटाज म्यूज़ियम. इन दिनों इसमें 'The pursuit of pleasure' नामक प्रदर्शनी चल रही थी जिसमें 16 से 20वीं सदी की रेनुआं, पिकासो, जान स्टीन, पीटर पाल रूबेंज़ आदि महान कलाकारों की लगभग 40 मूल कृतियां प्रदर्शित थीं. इतने महान कलाकारों की मूल पेण्टिंग्ज़ के सामने होना ही जीवन को सार्थक कर देने के लिये पर्याप्त है. इसी होटल का एक अन्य बडा आकर्षण है लन्दन के प्रसिद्ध मदाम तुसॉद के मोम संग्रहालय की एक शाखा.यहां कोई 100 चुनिंदा पुतले मौज़ूद हैं. जब आप अब्राहम लिंकन, जार्ज वाशिंगटन, जार्ज बुश, माइकल जैक्सन, मडोना, राजकुमारी डायना, एल्विस प्रीस्ले, फ्रैंक सिनात्रा, जूलिया राबर्ट्स आदि से मुखातिब होते हैं तो वाकई इनके साथ होने का ही अनुभव करते हैं. जब लोग इनके साथ खड़े होकर फोटो खिंचवा रहे थे तो हमारे लिये यह तै करना कठिन था कि कौन असली है और कौन नकली. ये पुतले हैं तो मोम के लेकिन इन्हें छूना मना नहीं है. आप चाहें हाथ मिलायें, चाहे गले में बांहें डालें.... जैसी आपकी मर्ज़ी. कुछ पुतले तो बोलते भी हैं, जैसे एल्विस प्रीसले का पुतला.

जब यह सब लिखते हुए ही मेरा मन नहीं भर रहा है तो सोचा जा सकता है कि इन सबको देखते हुए कैसा लगता होगा. अपनी होटल चर्चा को होटल बेलाजियो में हर दिन कई-कई बार होने वाले नि:शुल्क आधे घण्टे के संगीतमय फव्वारों के प्रदर्शन के ज़िक्र के साथ समेटता हूं. होटल के सामने बनी चौथाई मील लम्बी झील में जब सैकड़ों फव्वारे

संगीत की स्वर लहरी के साथ अठखेलियां करते हैं तो बस देखते ही बनता है. फव्वारे मानो बोलने लगते हैं और उनके माध्यम से संगीत सुनाई देने लगता है. इसी होटल की लॉबी में विश्वविख्यात कलाकार डेल चिहुली रचित लगभग 2000 कांच के फूलों की छटा भी अद्भुत है.

हर होटल में थीम के आधार पर ही सब कुछ है. सभी में ढेरों-ढेर दुकानें हैं. दुनिया का हर बड़ा, महंगा और सुपरिचित उत्पाद यहां मौज़ूद है. हर जगह स्मृति चिह्नों की भरमार. आखिर हरेक अपनी यात्रा की स्मृति को संजोना तो चाहेगा ही. मज़े की बात यह कि इन सारे होटलों में प्रवेश नि:शुल्क है. आप मज़े में, बेझिझक घूमते रहें. कैसिनो में लोग खेल रहे हैं, पी रहे हैं. आप उन्हें देखते रहें. मन आये तो आप भी खेल लें, नहीं तो गुनगुना लें- ‘बाज़ार से गुज़रा हूं, खरीददार नहीं हूं’.

लास वेगस का एक और बडा आकर्षण है फ्रेमोण्ट स्ट्रीट. नगर के मुख्य आकर्षण केंद्र ‘द स्ट्रिप’ से कुछ मील दूर डाउन टाउन में स्थित यह गली नुमा बाज़ार अपने अनूठे ध्वनि-प्रकाश कार्यक्रम के कारण हर पर्यटक के लिये ज़रूरी है. स्ट्रीट की कोई चौथाई मील लम्बी अर्ध गोलाकार छत पर रोज़ रात कोई सवा करोड एल ई डी (LED-एक तरह के छोटे बल्ब) और 550000 वाट स्टीरियो ध्वनि के साथ एक कम्प्यूटर चालित शो होता है. छत पर एक के बाद एक फूलों, तितलियों, नर्तकों, वगैरह की छवियां उभरती हैं और संगीत आपको झूमने को विवश करता है. यह प्रदर्शन तकनीक के कमाल की अनुपम मिसाल है.

तीन दिन भागते-भागते घूम कर हम इतने थक गये थे कि अगर चौथे दिन कते तो होटल में ही पड़े रहते. लेकिन मन नहीं भरा था. गालिब याद आ रहे थे-

गो पांव को नहीं ज़ुम्बिश, आंखों में तो दम है
रहने दो अभी लास वेगस को मेरे आगे !

(असल शे'र कुछ यों है-
गो हाथ को नहीं ज़ुम्बिश, आंखों में तो दम है,
रहने दो अभी सागर-ओ-मीना मेरे आगे !)

*

लास वेगस की ख्याति ऐसे नगर के रूप में भी है जहां बड़े लोग विवाह करना पसन्द करते हैं. एल्विस प्रीस्ले ने यहीं शादी की थी और कुछ समय पहले ब्रिटनी स्पीयर्स ने यहां (पहली तथा अल्पजीवी) शादी कर सनसनी फैलाई थी. हर होटल में इसके लिये समुचित प्रबंध है. विवाह के लिये चैपल तक. इसे प्रचारित भी खूब किया जाता है. पर यह न समझ लें कि वेगस में केवल बड़े/अमीर लोग ही शादी कर सकते हैं. आम जन के लिये आसान सरकारी व्यवस्था भी है. आप एक सरकारी दफ्तर (जो सातों दिन, 24 घण्टे खुला रहता है) में जाएं, दो-एक साधारण फॉर्म भरें, बहुत थोड़ा-सा शुल्क जमा करायें : बस हो गई शादी. पूरी तरह सरकारी और सर्वमान्य. ज़रूरत बस केवल इतनी कि वर-वधु वयस्क हों. दरअसल सरल चीज़ों को सरल कैसे रहने दिया जाय, यह अमरीका से सीखना चाहिये. भई, अगर दो वयस्क शादी करना चाहते हैं तो करने दें. राज्य को भला इसमें क्यों आपत्ति हो? राज्य का फर्ज़ आपका जीवन सुगम बनाना है, न कि दुर्गम. आंकड़े बताते हैं कि वेगस में प्रति वर्ष लगभग 1,20,000 विवाह होते हैं.

लास वेगस की यह प्रशंसाभरी चर्चा करते वक़्त मेरे जेहन में डॉ भगवतशरण उपाध्याय की एक प्रसिद्ध समीक्षा (शायद अज्ञेय के उपन्यास ‘नदी के द्वीप’ की) के शीर्षक की याद आती रही. शीर्षक था-'सुन्दर पके फल में कीड़े' . क्या यह शीर्षक लास वेगस पर लागू नहीं होता? इतना खूबसूरत शहर, उसके मूल में क्या? जुआ ! एकदम अनैतिक! पाप!! और भला जिसके मूल में पाप हो वह सुन्दर कैसे हो सकता है? और जब पाप पुण्य की बात करूं तो भला यह कैसे हो सकता है कि ‘चित्रलेखा’ वाले भगवती चरण वर्मा याद न आयें? वो क्या कहा था उन्होंने, कि 'हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं. हम वो करते हैं जो हमें करना पड़ता है!' भई वाह !

हम लोग दूर से, भारत में, वेगस को एक पाप-नगरी के रूप में ही देखते-जानते रहे हैं. (अमरीका में भी जेरेमी कोरोनेडो जैसे लोगों की एक जमात है जो वेगस को ‘सिन सिटी’-पाप नगरी कहती है!) यही कारण है कि जब मैंने अपने मित्रों से फोन पर यह ज़िक्र किया कि हम वेगस जा रहे हैं तो उनकी प्रतिक्रिया कुछ खास तरह की, व्यंग्यपूर्ण थी. शायद अच्छे-बुरे के बारे में पीढ़ियों से बद्धमूल संस्कार हमें चीज़ों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने में अवरोधक सिद्ध होते हैं. अगर मैंने भी खुद अपनी आंखों वेगस को नहीं देखा होता तो मेरी भी धारणा वही होती जो मेरे मित्रों की थी, और है.

पर अब खुद अपनी आंखों लास वेगस को देखकर मैं अलग तरह से सोचने लगा हूं.

लास वेगस ने जुए को न केवल एक कला का दर्ज़ा प्रदान किया है, इसे पर्यटन से जोड़कर नगर, राज्य व देश की अर्थव्यवस्था को भी बेपनाह मज़बूती दी है. इस बात पर निश्चय ही घोर असहमतियां हो सकती हैं कि राज्य जुए को वैध करार दे तथा अपनी आय का साधन बनाये. मेरा खयाल है कि यदि चीज़ों को सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो ये असहमतियां कम हो जाती हैं. क्या यह उपयुक्त नहीं लगता कि एक वयस्क समाज अपने नागरिकों को अपनी तरह से ज़िन्दगी जीने का और मौज़-मज़ा करने का हक़ दे? और अगर इससे राज्य की अर्थव्यवस्था सुधरती है तो किसी को आपत्ति क्यों हो? राज्य की ज़िम्मेदारी मैंने यहां इस रूप में देखी कि 18 वर्ष से कम वय के किशोर-बच्चे-शिशु जुआ नहीं खेल सकते. ये लोग धूम्रपान व मदिरापान भी नहीं कर सकते. इन नियमों का पूरी सख्ती से पालन किया व कराया जाता है. पर जो उम्र के लिहाज़ से समझदार हैं, अपना भला-बुरा पहचानने की योग्यता रखते हैं, उन्हें अपनी तरह से अपनी ज़िन्दगी को जीने दिया जाए, यह उचित लगता है. मैंने तो यह महसूस किया है कि जो लोग चाहते हैं, और अफोर्ड कर सकते हैं, उन्हें उनकी चाही खुशी सुलभ कराना और इसी के माध्यम से अपनी बहबूदी का इंतज़ाम कर लेना कतई गलत नहीं है. लास वेगस के होटल, कैसिनो और अन्यान्य संस्थान लाखों लोगों को आनन्द प्रदान करते हैं और हज़ारों लोगों के घरों में चूल्हा जलाते हैं. क्या इनकी यह सार्थकता कम है?

मैंने खुली आंखों और बहुत खुले मन से लास वेगस को देखा. यह देखा कि लोग मौज़-मज़ा कर रहे हैं पर किसी तरह की कोई अशिष्टता कहीं नहीं थी. जिसको जिस बात में आनन्द मिल रहा था, ले रहा था. मानो 'कामायनी' का आनन्दलोक बसा हुआ था. मनुष्य और उसके उद्यम ने घनघोर रेगिस्तान में जो स्वर्ग निर्मित कर दिया है, उसे देखे बगैर उसके सौन्दर्य की कल्पना की ही नहीं जा सकती. लास वेगस ने कई तरह से मेरी आंखें खोलीं. सितारों से आगे जहां और भी है का पूरा अर्थ यहीं आकर समझा मैंने. यहीं आकर यह देखा जाना कि भव्य क्या होता है. यहीं आकर यह देखा कि खुशी से दमकते चेहरे कैसे होते हैं. और यहीं आकर यह सबक भी लिया कि पाप पुण्य का निर्णय शून्य में नहीं किया जा सकता. कम से कम अपने बारे में तो कह ही सकता हूं कि लास वेगस ने मुझे ज़िन्दगी को देखने का नया नज़रिया दिया है. जब तक चीज़ों को आप खुद, और वह भी एकदम खुले मन से न देखलें, आपके निष्कर्ष भ्रांत ही रहेंगे. इसीलिये, मैंने अपने सन्दर्भ में कहा कि जिसने वेगस नहीं देखा, वह तो मानों जनमा ही नहीं.

****

---

1. शीर्षक के लिये असगर वज़ाहत के नाटक 'जिस लाहौर नहीं देख्या ओ जनम्या ही नहीं' तथा अज्ञेय की पुस्तक- 'अरे! यायावर रहेगा याद' के प्रति कृतज्ञतापूर्ण आभार.

ज़िन्दगी एक सफर है सुहाना..

भारत में पिछले कुछ वर्षों में सड़कों की दशा में काफी सुधार हुआ है. लेकिन इसी के साथ यह कहने वालों की संख्या भी कम नहीं है कि इन उम्दा सड़कों ने दुर्घटनाओं को बढावा दिया है. सड़क अच्छी है इसलिए आप गाड़ी तेज़ चलाते हैं, इसलिये दुर्घटनाएं ज़्यादा होती हैं.

पहली बार अमरीका आया तो यहां दोनों बातें देखकर डरा. बहुत अच्छी, साफ-सुथरी, खूब चौड़ी सड़कें, जिन पर कोई गड्ढा तो दूर खरोंच तक ढूंढे से भी न मिले, और उन पर बहुत तेज़ गति से भागती गाड़ियां. 100 मील (यहां माप का पैमाना मील है, किलोमीटर नहीं. मील यानि 1.6 किलोमीटर. 100 मील माने 160 किलोमीटर) प्रति घण्टा की रफ्तार को सामान्य औसत माना जा सकता है. हाइवे पर 120-130 मील की रफ्तार भी हो सकती है, और व्यस्त मार्गों पर 60-70 मील की. तो, इन दो चीज़ों से तो दुर्घटनाएं बहुत ज़्यादा होनी चाहिये. कुछ धुकधुकी भी हुई. अपनी जान किसे प्यारी नहीं होती ! लेकिन धीरे-धीरे आश्वस्ति होने लगी. ऐसा नहीं है कि यहां दुर्घटनाएं नहीं होतीं. पर अगर अनुपात में देखें तो भारत की तुलना में बहुत कम. जितनी होती हैं, उन्हें भी कम करने के लिये सतत प्रयास किये जाते हैं.

कैसी है अमरीका की सड़क यातायात व्यवस्था?

सड़कें बहुत चौड़ी और साफ-सुथरी हैं, यह मैं पहले कह चुका हूँ. जहां तक सम्भव होता है, सड़कों पर यातायात को एक तरफा रखा जाता है यानि जाने वाली सड़क अलग, आने वाली अलग. सड़कों पर लेन सूचक अंकन बहुत स्पष्ट होता है. लेन अंकन अक्सर तो धातु की चौकोर डिब्बियों से होता है जो रात को चमकती भी हैं. कहां मुड़ना है, और कहां नहीं मुड़ना है यह भी स्पष्ट रूप से अंकित होता है. इस अंकन का उल्लंघन कभी कोई नहीं करता. ट्रैफिक लाइट्स हमारे यहां की लाइट्स की तुलना में ज़्यादा ऊंचाई पर होती हैं. सड़क के बीच में, ऊपर से नीचे को झूलती हुई. इसलिये ज़्यादा दूर से दिखाई दे जाती हैं.लाल लाइट पर गाड़ी न रूके, यह हो ही नहीं सकता. फिर भी, व्यस्त मार्गों पर वीडियो कैमरे भी लगे होते हैं जो उल्लंघनकर्त्ता की फोटो ले लेते हैं. उन मार्गों पर, जहां दो सड़कों

के मिलने की वजह से टी (T) बनता है, मुख्य मार्ग पर आकर मिलने वाली जगह से ठीक पहले STOP का लाल चिह्न होता है, और यातायात हो या न हो, आपको रूकना ही होता है. अगर न के, निश्चय मानिये, आपको 'टिकिट' मिल जायेगा. टिकिट से तत्काल तो आपकी जेब हल्की होती ही है, इसके दूरगामी परिणाम भी हो सकते हैं. आपको खराब ड्राइवर माना जा कर आपसे अधिक इंश्योरेंस प्रीमियम वसूल किया जा सकता है. ट्रैफिक पुलिस अक्सर सड़कों के किनारों पर 'छिपी' रहती है और किसी भी तरह का उल्लंघन करते ही प्रकट हो कर अपनी बिजली चमकाती, सायरन बजाती गाड़ी आपके आगे ले आती है. आपको रोका जाता है, और पूरे आदर से (पुलिस और आपको आदर दे- इट हैप्पन्स ओनली इन अमरीका !) टिकिट थमा दिया जाता है. न कोई कहता है कि एस पी साहब मेरे दोस्त हैं, या थानेदार साहब अंकल हैं, न कोई सेलफोन दिखाकर बेचारे सिपाही को आतंकित करता है! कानून का पालन तो होना ही है. आम नागरिक जानता है कि उसने कोई गलती की है तो सज़ा तो मिलनी ही है, और इसलिये कोई जान बूझकर गलती नहीं करता. क्या हुआ जो रात के ढाई बजे हैं और सड़क एकदम सूनी है. लाल बत्ती पर या स्टॉप चिह्न पर   तो कना ही है. क्या हुआ जो अपने गंतव्य वाले एक्ज़िट (Exit) से बीस कदम आगे निकल गये, गाड़ी घुमा लेते हैं. नहीं. बीस मील का चक्कर पड़े तो पड़े, सही तरह से ही लौटेंगे. हमारे साथ कई बार हुआ. मेरे भारतीय मन ने सोचा, ज़रूर ऐसा कर लेंगे, पर किसी ने नहीं किया.

सड़कों पर सारे चिह्न, सारे संकेत, सारे निर्देश बहुत स्पष्टता से और निश्चित तौर पर अंकित होते हैं. किस लेन से बांये मुड़ना है और किस लेन से नहीं मुड़ना है, किस लेन पर एक्ज़िट लेना ही है, और किस लेन से एक्ज़िट नहीं लिया जा सकता है, कहां दांये या बांये नहीं मुड़ना है - यह सब साफ साफ अंकित होता है. हर कहीं गाड़ी खड़ी कर लेने की आज़ादी नहीं है. बल्कि हाइवे पर तो यह तक अंकित होता है कि कने की अगली जगह 40 मील बाद है, और हर 2-3 मील बाद विश्राम स्थल की घटी हुई शेष दूरी की सूचना अंकित होती है. हाइवे पर हर कहीं तो का नहीं जा सकता, इसलिये हर 40 मील के बाद 'रेस्ट एरिया' निर्मित कर दिये गए हैं जिन तक पहुंचने के लिये हाइवे से बाहर निकलना होता है. इन विश्राम स्थलों पर पर्याप्त पार्किंग स्थल, छोटा-सा जलपान गृह, स्वच्छ शौचालय आदि होते हैं. कुत्तों को शौच करवाने तक की अलग से निर्धारित जगह होती है. जलपान गृह में अक्सर उष्ण पेय निःशुल्क होता है. आप अपनी इच्छा या क्षमतानुसार राशि डिब्बे में डाल सकते हैं.

सभी सड़कों पर, बावज़ूद गाड़ियों की रेलमपेल के, दो गाड़ियों के बीच खासा फासला रहता है. यह इसलिये ज़रूरी भी है कि गाड़ियां बहुत तेज़ रफ्तार से चलती हैं. अगर फासला न हो.... पर सावधानी सारी बरती जाती है. कोई भी वाहन चालक बगैर संकेत दिये अपनी लेन नहीं बदलता है. अगर बदल ले, अमरीका में तो राम का नाम ज़रा ज्यादा ही जल्दी सत्य हो सकता है. वाहन चालक हॉर्न का इस्तेमाल लगभग नहीं के बराबर करते हैं. अगर किसी ने आपके लिये हॉर्न बजाया है तो यह बहुत गम्भीर बात है. आपको शर्मिन्दा होना चाहिये. भारत की तरह डिपर देने का चलन भी नहीं है. केवल मुड़ने की सूचना देने वाली लाइट्स का प्रयोग होता है.

सड़क पर सिर्फ कारें ही दीखती हैं. किसम किसम की. भारत वाली विविधता यहां नहीं है कि एक ही सड़क पर सुअर, बकरी, पैदल चलता आदमी, रेंगता अपाहिज भिखारी, साइकिल, साइकिल रिक्शा, थ्री व्हीलर, ऊंट गाड़ी, स्कूटर, मोटर साइकिल, मारुति 800, मर्सीडीज़, ट्रक सभी के दर्शन एक साथ हो जाएं! इस विविधता के कारण यातायात की जटिलताएं बढती हैं. सड़क पर बढती जनसंख्या का दबाव तो है ही. अमरीका में यह सब नहीं है, इसलिए मामला आसान है. यहां तक कि भारी ट्रक वगैरह भी आम रास्तों पर नहीं दीखते. कभी कभार सिटी बस ज़रूर दीखती है, लगभग खाली! मज़ा यह कि लोग उसके आगे (बाकायदा जगह बनी होती है) अपनी साइकिल तक लटका लेते हैं. सिटी बस मे गंतव्य सूचक जो बोर्ड लगा होता है वह प्रायः इलेक्ट्रोनिक होता है. जगह-जगह ऐसे स्थल भी बने होते हैं जिन्हें 'पार्क एण्ड राइड' कहा जाता है. आप अपनी कार पार्क करें और बस में बैठकर चले जाएं. यह कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे हमारे जयपुर में नारायण सिंह सर्कल पर है. फर्क इतना है कि वहां दुपहिया वाहन खड़े किये जाते हैं, यहां चौपहिया.

सड़क पर आदमी कम ही नज़र आता है. मतलब - गाड़ी के बाहर आदमी. कहीं-कहीं फुटपाथ (यहां साइडवाक) पर चलते युवा या शोल्डर (सड़क का किनारा) पर साइकल दौड़ाते (अलग तरह का हेल्मेट लगाये) इक्का-दुक्का आदमी-औरत या साइडवाक पर ही स्केट बोर्ड पर दौड़ते किशोर ही नज़र आते हैं. वाहन चालक पैदल या साइकल सवार को विशेष अहमियत देते हैं. अगर आप पैदल हैं और सड़क पार कर रहे हैं तो ट्रैफिक को कना ही है. मुझे तो यह देखकर नीरज की एक बहुत पुरानी कविता याद हो आई जिसका शीर्षक 'राज मार्ग के पथिक से' या ऐसा ही कुछ था. कविता राज मार्ग पर वाहनों के बीच डरे-सहमे पथिक को सम्बोधित है और इसमें कवि एक ऐसे भविष्य की कल्पना करता है जब पथिक निडर होकर राज मार्ग पर चल सकेगा. वह बच्चों को भी आश्वस्ति देता है कि वे भी सड़क पर खेल सकेंगे. नीरज का यह सपना अमरीका में हक़ीकत के

लिबास में देखने को मिला, जहां बच्चे सड़क पर स्केट्स पर दौड़ते हैं और पैदल चलने वाला इस बात से आशंकित नहीं होता कि कोई तेज़ रफ्तार गाड़ी उसे परलोक पहुंचा देगी. वैसे, यहां पैदल चलने वालों के लिए सड़क पार करने के निर्धारित स्थान होते हैं और उनके प्रारम्भ स्थल पर एक खास तरह का बटन लगा होता है, जिसे दबाने पर यातायात रोकने वाली लाल बत्ती जल उठती है. महत्वपूर्ण बात यह कि अगर कोई अचानक भी किसी विवशता से सड़क पार करे तो उसके लिये यातायात थम जाता है. दुकानों, शॉपिंग माल्स आदि से बाहर निकल कर जब आप पार्किंग स्थल तक जाते हैं तब भी आपको पैदल देख, वाहन आपको सुरक्षित सड़क पार करने देने के लिए थमे रहते हैं. यह बात नियम से बाहर यहां की संस्कृति का ही हिस्सा बन गई है.

गैस स्टेशन इफरात से हैं. गैस माने पैट्रोल. गैस है भी सस्ती. लगभग 2.18 डॉलर प्रति गैलन. करीब 26.00 रूपया प्रति लिटर. गैस एकाधिक किस्मों में मिलती है, उनकी दरें भी अलग-अलग होती हैं. इसीलिए मैंने औसत शब्द का प्रयोग किया है. हम जिस राज्य वाशिंगटन में रहे वहां गैस आपको खुद भरनी होती है. पर कुछ अन्य राज्यों में इसके विपरीत वाली व्यवस्था है. वहां आप चाहें तो भी खुद गैस नहीं भर सकते. गैस स्टेशन का कर्मचारी ही यह काम करेगा. गैस स्टेशनों पर पोचा नुमा चीज़ें पड़ी रहती हैं जिन से आप खुद अपनी कार के शीशे वगैरह साफ कर सकते हैं. हर गैस स्टेशन पर एक अच्छा खासा स्टोर भी होता है जो अमरीकियों की खाने-पीने की तलब पूरी करता है. खाने पीने का तो जैसे अमरीकियों को जुनून ही है. गैस स्टेशनों पर बीयर भी मिल जाती है. वहां सशुल्क और निःशुल्क दोनों तरह के अखबार भी मिल जाते हैं.

कार में सीट बेल्ट लगाना ज़रूरी होता है. आगे बैठने वालों के लिये ही नहीं, पीछे बैठने वाले सभी लोगों के लिए भी. एक बहुत खास बात यह कि बच्चे को, चाहे वह कितना ही छोटा (एकदम नवजात भी) क्यों न हो, अलग कार सीट में ही बिठाना पड़ता है, और यह कार सीट पीछे ही लगती है. ज़ाहिर है, यह प्रावधान भावी पीढ़ी की ज़िन्दगी की अहमियत को समझ कर किया गया है. कार सीट में, और वह भी पीछे होने से, बच्चा ज़्यादा सुरक्षित रहता है. जब आप नवजात शिशु के लिए कार सीट खरीद कर अपनी कार में लगाते हैं तो अस्पताल यह जांच भी करता है कि सीट ठीक से लगाई गई है या नहीं. बच्चे को सीट में बिठाना ही पर्याप्त नहीं है, उसे बेल्ट से बांधा जाना भी उतना ही ज़रूरी है. सीट में बिठाने वाला यह प्रावधान बच्चे के 6 वर्ष या 60 पाउण्ड वज़न का हो जाने तक लागू रहता है. कारों की पार्किंग की समुचित व्यवस्था होती है. पार्किंग स्थल निर्धारित होते हैं, हर गाड़ी के लिए अलग से अंकन होता है और लोग उस अंकन का

ध्यान रख कर ही अपनी गाड़ी पार्क करते हैं. गाड़ियों की बहुलता की वजह से पार्किंग की जगह का टोटा पड़ने लगा है, पर इस समस्या के समाधान भी निकाले जा रहे हैं. बहु मंज़िला पार्किंग आम है. व्यस्त सड़कों के किनारे भी मीटर आधारित पार्किंग का प्रावधान होता है. आप पैसे डाल कर निश्चित समय के लिये अपनी गाड़ी पार्क कर सकते हैं. अन्यत्र भी, जहां स्थानाभाव होता है, सशुल्क पार्किंग का ही प्रावधान होता है. बड़े व्यापारिक संस्थान अपने ग्राहकों के लिए अलग से आरक्षित पार्किंग स्थल भी उपलब्ध कराते हैं. जगह-जगह इस आशय के बोर्ड लगे रहते हैं कि अनधिकृत रूप से पार्क की गई गाड़ी आप ही के व्यय पर उठा कर ले जाई जाएगी. मैंने देखा कि गाड़ियों की इतनी इफरात के बाद भी पार्क करने या पार्क की हुई गाड़ी निकालने में कोई दिक़्क़त दरपेश नहीं आती, क्योंकि हर आदमी नियम और निर्देश का अक्षरशः पालन करता है.

ऐसा नहीं है कि यहां सड़क दुर्घटनाएं नहीं होती हैं. ऑटोमोबाइल असोसिएशन ऑफ अमरीका की एक ताज़ा रिपोर्ट बताती है कि सड़क पर डाल दिये गये कबाड़-कूड़े की वजह से ही साल में 25,000 दुर्घटनाएं हो जाती हैं और इनमें कम से कम 90 लोग अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं. गैर-ज़िम्मेदार लोग कहां नहीं होते ? यहां भी हैं. उनकी गैर-ज़िम्मेदारी और वाहन की तेज़ गति का मिश्रण घातक बन जाये तो क्या आश्चर्य? एक दिन पढा कि वेब वाट्सन नाम की 55 वर्षीय महिला अपने काम से घर लौट रही थी कि उनकी कार के आगे जाते वाहन से सड़क पर पड़ा एक सात पाउण्ड वज़न का धातु का टुकड़ा उछला और उनकी कार के विण्डस्क्रीन को तोड़ता हुआ उनके चेहरे की सारी हड्डियां चकनाचूर कर गया. बेचारी वेब कार को ब्रेक भी नहीं लगा पाईं. कार सीधी एक खाई में जा गिरी. 14 इंच लम्बा, 3 इंच चौडा और 1 इंच मोटा यह धातु का घातक टुकड़ा , शायद किसी ट्रक से गिर गया था. कुछ ऐसे ही घटनाक्रम में कुछ समय पहले वाशिंगटन विश्वविद्यालय की एक 24 वर्षीय स्नातक मारिया फेडेरिकी का मस्तिष्क व चेहरा गम्भीर रूप से आहत हो गया था.

ये दो उदाहरण महज़ यह बताने को कि दुर्घटनाएं यहां भी होती हैं, पर अगर हम भारत के लिहाज़ से सोचें तो यह कि इतने वाहनों गुणा इतनी तेज़ गति के कारण जितनी होनी चाहिये, उससे बहुत कम. यह भी कि हर दुर्घटना को बहुत गम्भीरता से लिया जाता है. अगर दो गाड़ियां थोड़ी-सी भी भिड़ जाएं तो एम्बुलेंस, पुलिस, राहत टीम सब कुछ चन्द ही पलों में मौका-ए-वारदात पर हाज़िर हो जाते हैं. पहला काम होता है आहत को राहत पहुंचाने का. बाकी सब उसके बाद. दुर्घटना के कारणों की गम्भीर पड़ताल की जाती है, उन पर विस्तृत शोध किये जाते हैं और शोध के निष्कर्षों पर अमल किया जाता है.

भारत में अभी गति का वैसा बुखार नहीं है जैसा अमरीका में है. सच तो यह भी है कि न हमारी सड़कें इस काबिल हैं, न गाड़ियां . जगह-जगह टूटी-फूटी सड़क पर हल्की-फुल्की मारुति 800 को आप किस रफ्तार से भगा लेंगे? 40-50-60, हद से हद 80-90 किलोमीटर प्रति घण्टा. सड़क एकदम सही हो तो भी इससे तेज़ रफ्तार पर तो आपकी गाड़ी झूमने लगेगी. यानि हमारी समस्या अभी गति-जन्य नहीं है. अगर लोगों को सड़क व्यवहार की समुचित शिक्षा दी जाए तो भारत में सड़क यातायात का सुधार कोई मुश्किल काम नहीं है. लोग सड़क पर सही व्यवहार करें इसके लिये दो बातें हो सकती हैं. एक, सही व्यवहार क्या है, यह लोगों को बताया जाए, और दो, गलत व्यवहार करने पर समुचित दण्ड दिया जाए. बहुत सारी गलतियों के मूल में अज्ञान या अपर्याप्त सूचना भी होती है. अमरीका के यातायात को देख इन बातों का महत्व समझ में आता है. अगर सावधानी हो तो सुरक्षा हो ही जाती है. दुर्घटना तो होती ही तब है जब सावधानी हटती है.

****

यही सच है ?[1]

अमरीकी लोगों के शिष्टाचार, शालीनता, सद्व्यवहार ने मुझे बहुत प्रभावित किया है. आप पैदल सड़क पार कर रहे हैं तो गाड़ी में बैठा व्यक्ति आपको तसल्ली से सड़क पार करने देगा, आप दरवाज़ा पार कर रहे हैं तो आपसे आगे वाला व्यक्ति आपके लिये दरवाज़ा थामे रहेगा, अपरिचित भी आपसे दृष्टि सम्पर्क होते ही मुस्कुराकर हैलो कहेगा, अगर किसी को ज़रा भी ऐसा लगा कि उसके कारण आपको असुविधा हुई है तो वह आपसे क्षमा याचना करेगा....वगैरह. मैं वाणिज्यिक और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की चर्चा यहां जान बूझकर नहीं कर रहा हूं, हालांकि प्रभावित वहां भी कम नहीं हुआ हूं. किसी भी दुकान का सेल्समेन या वुमन, हालांकि आपको उनसे सम्पर्क का अवसर (भारत की तुलना में) कम ही मिलता है, शालीनता की प्रतिमूर्ति ही होता/होती है. जिस अस्पताल में हमारी बेटी प्रसव के लिये भर्ती थी वहां की नर्सों के लिये तो एक दिन बेसाख्ता मुंह से निकल गया कि ये तो हमें डायबिटीज़ कर के ही मानेंगी. पर यह चर्चा ज़्यादा इसलिये नहीं कि व्यावसायिक-वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों (और अस्पताल भी उन्हीं में से एक है) से तो यह अपेक्षित है ही. आखिर इस व्यावसायिक समाज में अपनी जगह बनाये रखने के लिये

यह तो करना ही होग! कोई तो यहां तक कह रहा था कि इन लोगों को बाकायदा सद्व्यवहार का प्रशिक्षण दिया जाता है. अगर यह सच है तो भी अच्छा ही है. काश ! हमारे भारत में भी ऐसा ही हो, जहां खास तौर पर सरकारी दफ्तर में तो लगता है कि हर कोई कटखना ही है. तो जब मैं अमरीकी लोगों के सद्व्यवहार से अभिभूत हो रहा था, तभी एक ज़ोर का झटका (धीरे से नहीं, पूरे ज़ोर से) लगा.

मैं यहां 'सिएटल टाइम्स' नियमित रूप से पढता हूं, और क्योंकि फुरसत कुछ ज़्यादा है, ज़्यादा ही डूब कर पढता हूं. एक और कारण डूब कर पढने का यह भी है कि इस अखबार की विषय वस्तु मुझे अमरीकी समाज को समझने में मददगार लगती है. जिस झटके का ज़िक्र मैंने किया वह मुझे एक ही दिन (20 मई 2004) के अखबार की सामग्री से लगा.

क्या थी वह सामग्री?

ज्युडिथ मार्टिन नाम की एक महिला 'मिस मैनर्स' नाम से एक साप्ताहिक कालम लिखती हैं. इस कालम में वे पाठकों के शिष्टाचार (एटीकेट) विषयक सवालों के जवाब देती हैं. अब यह तो बहुत अच्छी बात है कोई समाज शिष्टाचार को इतनी अहमियत दे. अक्सर लोगों के सवाल उनकी सम्वेदनशीलता का ही परिचय देते हैं. किसी आयोजन में किस-किस को बुलाया जाए, यदि निमंत्रण स्वीकार न कर पाएं तो क्या करें, कैसा उपहार दें, आदि. लेकिन इस अखबार में मिस मैनर्स से जो तीन जिज्ञासाएं की गई हैं, ज़रा उनकी बानगी देखें.

एक महिला ने लिखा है कि जब वे कीमोथैरॉपी (केंसर उपचार) कराकर घर लौटती हैं तो घर पर नर्स उनसे कहती हैं कि वे अपने पति की मां जैसी दिखती हैं. वे यह भी लिखती हैं कि जब से वे बीमार हुई हैं कईयों ने उन्हें कहा है कि वे अपने बेटे की दादी-मां जैसी लगती हैं. उनकी एक मित्र अक्सर उनसे बीमारी, इलाज़, वज़न आदि की अप्रीतिकर चर्चा कर उन्हें आहत करती हैं...

एक अन्य महिला ने हालांकि प्रश्न तो एटीकेट विषयक किया है, पर जो बात उन्होंने लिखी है वह मुझे कुछ ज़्यादा ही अजीब लगी. उन्होंने लिखा है कि वे अपने पति के साथ एक उम्दा रेस्टोरेण्ट में डिनर के लिये गईं. वहां उन्हें एक बड़ी ब्रेड परोसी गई जिसे उन्ही लोगों को एक बड़ी छुरी से काटना था. लगभग आधा खाना खा चुकने के बाद, इस ब्रेड को काटते हुए उनके पतिदेव अपना अंगूठा भी काट बैठे. बहते खून को बन्द करने के

लिये इन भद्र महिला ने अपने पर्स से बैण्ड एड निकाल कर पतिदेव को दी और पतिदेव उसे लेकर पुरुषों के रेस्टरूम (यहां 'प्रसाधन' को रेस्टरूम कहा जाता है) में चले गए. उन्हें भीतर गये कुछ मिनिट ही हुए थे कि इस महिला की इच्छा ब्रेड खाने की हुई.(हाय रे पेट की अगन !). छुरी अभी भी ब्रेड में ही धंसी थी. पतिदेव का स्लाइस आधा कटा था. पत्नी जी ने पति का स्लाइस उठा कर उनकी प्लेट में रखा, फिर अपने लिए एक स्लाइस काटा. यहां वे यह बताना नहीं भूली हैं कि न तो छुरी पर और न ही ब्रेड पर कोई खून का दाग था. अब, पत्नी जी ने जानना चाहा है कि अलबत्ता उनके पति को उनके व्यवहार से कोई शिकायत नहीं थी, क्या उन्होंने पति की इस संक्षिप्त अनुपस्थिति में ब्रेड काट कर किसी मर्यादा का उल्लंघन किया है?

निश्चय ही ये प्रसंग मेरी भारतीय सम्वेदना के लिये कुछ अलहदा और अप्रीतिकर हैं. खास तौर पर इसलिये और भी कि मैं तो अमरीकी लोगों की शालीनता पर लगभग मुग्ध ही हूं. हमने अस्पताल में जब नर्स को उसकी सेवाओं के प्रति कृतज्ञता स्वरूप चॉकलेट का एक छोटा-सा डिब्बा दिया तो उसने जिस मधुरता से हमारे इस (अकिंचन!) उपहार की सराहना की वह मेरे मन में हमारे देश की याद ताज़ा करने को पर्याप्त था जहां आप टेलीफोन उपकरण लगाने आने वाले सरकारी कर्मचारी को पचास पये दें तो वह आपको खा जाने वाली निगाहों से ताके बगैर न रहे, और जहां बख्शीश भी दादागिरी से मांगी जाती है (दिल्ली हवाई अड्डे पर मुझे कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ, पर उसकी चर्चा अभी नहीं.वैसे भी ऐसे अनुभव हम सबको होते ही रहते हैं.). तो, ऐसे शिष्ट-शालीन समाज में यह बात कि किसी बीमार को बार-बार ठेस पहुंचाना या किसी औरत का उस वक़्त अपनी भूख पर सब्र न कर पाना जब उसका पति अपने ज़ख्म से जूझ रहा हो और फिर इस बात को लेकर नहीं बल्कि मर्यादा विषयक सूक्ष्म सवाल पर परेशान होना - ये तो अलग ही छवियां हैं. क्या ताल-मेल है इन भिन्न छवियों में?

इसी अखबार में एबिगेल वान ग्यूरेन का भी एक कालम छपता है - डियर एबी. यह कॉलम काफी लोकप्रिय है. इस कालम में पाठक-पाठिकाएं अपनी मनोव्यथाएं उजागर करते हैं. आज ही के अखबार में एबी ने एक तेरह वर्षीय लड़की के उस पत्र की चर्चा की है जो उन्होंने कुछ सप्ताह पहले प्रकाशित किया था और जिस पर उन्हें पूरे देश से प्रतिक्रियाएं मिल रही हैं. आज भी उन्होंने एक सीनेटर और एक स्टेट ट्रेज़रर की प्रतिक्रियाएं छापी हैं. इस तेरह वर्षीय लड़की ने उन्हें लिखा था कि जब एक दिन उसने अपनी कक्षा में यह कह दिया कि वह अपने देश की राष्ट्रपति बनने का सपना देखती है तो उसके सहपाठियों तथा शिक्षकों ने उसका खूब उपहास किया. सीनेटर महोदय ने इस

लड़की को लिखा है कि उसका उपहास करने वाले भूल गये हैं कि हम एक ऐसे देश में रह रहे हैं जहां हर बच्चे को - चाहे वह लड़का हो या लड़की- पलने बढ़ने के समान अवसर प्राप्त हैं और वे बिना किसी भेदभाव के राष्ट्रपति, अध्यापक,डॉक्टर, सीईओ या दुकानदार बन सकते हैं. सीनेटर महोदय ने गर्व से लिखा है कि ऐसा दुनिया में केवल इसी देश में सम्भव है. (सारे जहां से अच्छा वाला भाव कहां नहीं होता?)

जैसे ये प्रसंग काफी न हों. आज ही के अखबार में डेल्टा एयरलाइंस विषयक एक समाचार और इसी लिहाज़ से गौरतलब है. समाचार यह है कि इस एयरलाइंस की अल्पमोली सेवा सांग (Song) ने अपने उन यात्रियों को जो एक दूसरे के प्रति सद्‍व्यवहार का प्रदर्शन करेंगे, अनेक छूटें देने की घोषणा की है. सांग वायुसेवा के सीईओ जॉन सेल्वागियो ने यह कहकर अपनी पीठ थपथपाई है कि जो लोग दूसरों के लिए कुछ करते हैं उनके लिये कुछ करते हुए उन्हें प्रसन्नता है. इस कुछ में शामिल है 5000 मुफ्त टिकिट. समाचार में ही सांग वायुसेवा की इस पहल पर विश्लेषणात्मक टिप्पणियों का समापन एक वायुसेवा विश्लेषक रे नायडल के इस कथन से किया गया है : मैं कामना करता हूं कि दुनिया में ज़्यादा भले लोग न हों. वायुसेवाओं की माली हालत पहले से ही खस्ता है!

क्या एक पूंजीवादी समाज की अच्छाई का यही सच है?

हो सकता है रे नायडल की यह प्रतिक्रिया महज़ एक चुहल भरी टिप्पणी हो. इसे गम्भीरता से न भी लें तो सांग वायु सेवा की पहल पर तो विचार करना ही होगा. क्या वाकई इस वायु सेवा के यात्रियों में सद्‍व्यवहार दुर्लभ हो चला है? और इसी वायु सेवा के यात्रियों में क्यों ? इस बात को पिछले कुछ प्रसंगों से जोड़कर देखें तो जो तस्वीर बनती है वह निश्चय ही एक आदर्श समाज की तो नहीं है. उस समाज की भी नहीं जिस पर मैं मुग्ध हुआ था. कभी-कभी मुझे लगता है कि मनुष्य व्यवहार भला अलग-अलग देशों में अलग-अलग हो भी कैसे सकता है? मनुष्य की कमज़ोरियां तो सर्वभौमिक ही हैं न!

मैं खुद कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा हूं.

एक मन कहता है कि भीतर से अमरीकी और भारतीय सब समान हैं. अलग जो है वह मुलम्मा है, यानि मेकअप. अमरीका एक पूंजीवादी देश है. यहां पैकेजिंग का महत्व पूरी तरह समझ लिया गया है, जबकि हमारे यहां, भारत में चीज़ें अभी भी बहुत कुछ अपने प्रकृत रूपों में ही हैं. यही कारण है कि भारत में बहुत विकृतियां, विरूपताएं, बद्‍तमीज़ियां,

अशालीनताएं नज़र आती हैं. हमें शानदार पैकेजिंग जो नहीं आती. ये लोग बहुत उन्नत हैं. इन्होंने अपने व्यवहार पर शालीनता की बहुत उम्दा परत चढ़ा ली है. किसी उम्दा ब्यूटी पार्लर से प्रसाधन करा कर निकली महिला को देखें और फिर उसी को बगैर मेक अप के देखें. मुझ जैसे भारतीयों को अमरीका को जितना और जैसा देखने का मौका मिलता है उससे जो छवि मन पर अंकित होती है, वह अपनी तरह से स्वाभाविक है. आम तौर से हमारा सम्पर्क व्यावसायिक लोगों से ही तो होता है, और या फिर नागरिकों से ऐसी स्थितियों में जहां उनका प्रकृत रूप सामने नहीं आ पाता.

लेकिन एक और मन है मेरा जो कहता है कि नहीं ऐसा नहीं है. यह समाज कुछ मानों में निश्चय ही बेहतर है. इन्हीं प्रसंगों को इस नज़र से देखता हूं तो पाता हूं कि ये बातें इस समाज की गम्भीर चिंताओं को ज़ाहिर करती हैं. क्या हम ऐसी बातों पर प्रश्नाकुल होते हैं? अगर ये लोग इन बातों की चिंता कर रहे हैं तो यह तो इनकी सम्वेदनशीलता का द्योतक है. क्या हम ऐसी छोटी-छोटी बातों को अहमियत देते हैं? आखिर सोचना करने की पहली सीढ़ी ही तो है. जिन कॉलमों का हवाला मैंने दिया उनमें ऐसे-ऐसे सूक्ष्म मुद्दे उठाये जाते हैं कि मैं तो चकित रह जाता हूं. एक दिन एक भद्र महिला ने अपनी एक बहुत ही खास समस्या की चर्चा की. वे अंग्रेज़ी के साथ-साथ फ्रेंच भी बोलती हैं और अपनी बेटी को भी उन्होंने इन दोनों भाषाओं में प्रवीण किया है. बेटी से वे फ्रेंच में ही बात करती हैं. इस भद्र महिला का आजकल एक ऐसे सज्जन से प्रणय-प्रसंग चल रहा है जिनके तीन बेटियां हैं. ये लोग केवल अंग्रेज़ी बोलते हैं. भद्र महिला ने जानना चाहा है कि इन लोगों के सामने मां-बेटी का आपस में फ्रेंच में बतियाना इन्हें आहत तो नहीं करता होगा? है ना सूक्ष्म सम्वेदनशीलता की बात !

क्या बात है कि हम भारतीय इस तरह की सूक्ष्म बातों पर चिंतित नहीं होते, ये अमरीकी होते हैं? यही तो फर्क़ है. मैंने अपने शहरों में विदेशी पर्यटकों से अक्सर दुर्व्यवहार ही होते देखा है, जबकि यहां न हमने कभी किसी भी तरह के दुर्व्यवहार का अनुभव किया, न किसी अन्य भारतीय से ऐसा एक भी अनुभव सुना. हमें अपने देश में अपने देशवासियों से भी प्राय: ऐसा व्यवहार नहीं मिलता कि जिसकी तारीफ में कुछ कहा या लिखा जाए, जबकि यहां हर जगह हर प्रसंग काबिले-तारीफ ही मिला. दुकानदार 'हैव अ नाइस डे' कहेगा ही, सॉरी और थैंक्स का उदारतापूर्ण प्रयोग आम है. कोई अजनबी भी आपसे दृष्टि सम्पर्क होते ही मुस्कुराये बगैर नहीं रहेगा, आपको किसी तरह की असुविधा न हो, इसका ध्यान हर कोई रखता ही है. क्या इन बातों को एकदम ही नज़रअन्दाज़ कर देना युक्तिसंगत होगा?

आप क्या सोचते हैं?

****

1. शीर्षक के लिये मन्नू भण्डारी की प्रसिद्ध कहानी (यही सच है) के प्रति आभारी हूं.

पढ़ोगे लिखोगे तो...

सिएटल के अपने मित्र दम्पत्ति डॉ पंकज राजवंशी और डॉ आरती की थोड़ी चर्चा मैं अपने एक लेख (रोगी की दशा उत्तम है) में कर चुका हूं. जब भी इनके घर जाना हुआ, इनके आत्मीय आतिथ्य की मीठी यादें संजो कर लौटा. पंकज की बहुविध रुचियों और आरती की बेबाक़ जीवंतता ने मुझे इस दम्पत्ति का मुरीद बना दिया है. इनके यहां जाने पर एक और बात ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया. यों तो मैंने यह नोट किया कि यहां अमरीका में सभी लोग अपने बच्चों पर बहुत ध्यान देते हैं (यह बात मैं भारत के सन्दर्भ में, बहुत सोच-समझ कर लिख रहा हूं) पर पंकज और आरती अपने बच्चों पर जितना ध्यान देते हैं वह तो अतुलनीय है. छोटा रोहन तो लगभग सारे समय पंकज के कंधों पर ही चढ़ा रहता है, जबकि बड़की ईशा की पढ़ाई और उसके व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास के लिए दोनों जैसे पागल ही रहते हैं. यही चिंता है कि आरती ने अपनी नौकरी तक को तिलांजलि दे दी है, और पंकज भी नौकरी या काम को संतुलित समय ही देते हैं. अभी बहुत सारा खर्च कर पंकज ने अपने घर के बेसमेण्ट में नया निर्माण करवाया है ताकि ईशा को पूरा स्पेस मिल सके. जब भी इन लोगों से बात होती है, बच्चों की चिंता और उनके लिए कुछ करने का मुद्दा ज़रूर आता है. रोहन डेढ़ साल के हैं और ईशा छह बरस की. ईशा अपने घर के पास के ही एवरग्रीन स्कूल की दूसरी कक्षा की छात्रा हैं.

पंकज-आरती से अक्सर ईशा के स्कूल की और वहां की गतिविधियों की चर्चा सुन-सुन कर लगा कि ऐसे स्कूल को तो देखना ही चाहिये. अब इन लोगों के बारे में क्या कहूं? दोनों ही एक से बढ़कर एक हैं. आपके मुंह से कुछ निकलने की देर है. न भी निकले, इन्हें लग जाए कि यह आपके मन में है. बस! फिर जब तक वह काम हो न जाए, इन्हें चैन नहीं पड़ने का. ऊपर अपने जिस लेख का ज़िक्र मैंने किया, उस सन्दर्भ में भी पंकज यही करते रहे. याद मुझे दिलाना चाहिये था, पर मैं फोन करूं उससे पहले ही इनका फोन आ जाता. ज़्यादा क्या लिखूं? विस्तार में जाउंगा तो सच भी अतिशयोक्ति लगेगा. यही हाल आरती का है. मैंने तो हल्का-सा ज़िक्र किया था कि अगर स्कूल देख सकता तो... और उनका एक सूत्री कार्यक्रम हो गया अंकल को स्कूल दिखाना. यहां आपका किसी स्कूल में जाना आसान नहीं है. बाकायदा इज़ाज़त लेनी होती है. और उसके लिए कारण बताना होता है, प्रबंधन को आश्वस्त करना होता है. यह सब आरती ने किया. स्कूल प्रबंधन को बताया कि मेरे अंकल हैं, भारत में शिक्षा के काम से जुड़े रहे हैं, वगैरह. और अनुमति लेकर ही मानीं. अब आई दूसरी समस्या. वहां तक जाने की. संयोग यह पड़ा कि उन दिनों मुकेश और चारु दोनों ही अपने दफ्तर के कामों में अत्यधिक व्यस्त थे, इसलिए मैंने उनसे चर्चा नहीं की. अगर कर देता तो वे कुछ भी करते, मुझे वहां ले ही जाते. मैंने आरती को ही अपनी दिक़्क़त बताई, और एक दिन घने कोहरे को भेदती हुई, सुबह आठ बजे वे हमारे घर आ गईं. इससे पहले उन्होंने रोहन को डे केयर में और ईशा को उनके स्कूल में भी छोड़ा. रास्ते में मैं उनसे यहां की शिक्षा प्रणाली और इस स्कूल के बारे में जानकारी प्राप्त करता रहा.

जिस एवरग्रीन स्कूल में हमें जाना था वह सिएटल के दो सबसे अच्छे (और स्वभावतः महंगे भी) स्कूलों में से एक है. आरती बता रही थीं कि ईशा पर लगभग सवा हज़ार डॉलर (पचास हज़ार रूपये) प्रतिमाह खर्च होता है. यह तो फीस है. शेष अलग. दूसरे स्कूल थोड़े कम महंगे हैं. सरकारी स्कूल भी हैं. लगभग निःशुल्क. आरती ने चलती गाड़ी में से ही एक सरकारी स्कूल भी दिखाया, जो मुझे किसी भी तरह 'सरकारी' नहीं लगा. भारतीय सन्दर्भ में 'सरकारी'. एवरग्रीन स्कूल में लगभग 300 बच्चे पढ़ते हैं. स्कूल आठवीं तक का है.

पहले से फोन कर दिया गया था इसलिए स्कूल के प्रवेश द्वार पर ही इसके अपर डिवीजन के हेड कारमाइन चिकडेल प्रतीक्षारत थे. 45-50 साल के खूब लम्बे, खूब स्वस्थ अमरीकी. परिचय और स्वागत की औपचारिकता के बाद रिसेप्शन पर अपना नाम पता वगैरह दर्ज़

कर और कमीज़ पर अपने नाम का लेबल चिपका कर (ताकि सामने वाला आपको आपके सही नाम से सम्बोधित कर सके?) हम उनके सजे-धजे कक्ष में थोड़ी देर बैठे. चिकडेल की जानकारी के स्तर ने मुझे चकित किया. हम अपने स्कूलों में इस तरह के विज्ञ, वाक्पटु, समझदार, व्यावहारिक लोगों की कल्पना आम तौर पर नहीं करते. चिकडेल महोदय काफी दुनिया देखे हुए हैं. उनसे हुई चर्चा ने मुझे अमरीकी शिक्षा व्यवस्था को जानने का मौका तो दिया ही, इससे भी अधिक, एक सभ्य, सुसंस्कृत, जीवंत शिक्षावि से बतियाने का सुख प्रदान किया.

हम 5-6 कक्षाओं में गए. पहली से आठवीं तक. अब, यह कहना तो कोई अर्थ नहीं रखता कि स्कूल के पास साधनों की प्रचुरता है. फिर भी आर्थिक संसाधनों का अभाव यहां भी रहता है, ऐसा आरती बता रही थीं. कई तरीकों से अभिभावकों तथा अन्यों का सहयोग जुटाया जाता है. सभी कक्षाओं में दो बातों पर मेरा ध्यान गया. एक, बैठने की अनौपचारिक-सी व्यवस्था और दो, शिक्षक-शिक्षार्थी के बीच खुले, आत्मीय संवाद का माहौल. इन दोनों बातों के सूत्र आपस में जुड़ते हैं. हमारी भारतीय शिक्षा व्यवस्था में अनुशासन पर जो अत्यधिक ज़ोर रहता है (और फिर भी बेहिसाब अनुशासनहीनता होती है!) उसके एकदम उलट यहां अनुशासन जैसी कोई बात ही नहीं थी (और फिर भी किसी किस्म की कोई अव्यवस्था नहीं थी!). मुझे लगा, हमें भी यह पद्धति आजमानी चाहिये. विद्यार्थी शिक्षक को उसके नाम से पुकारते हैं, न सर, न मिस्टर. केवल जेम्स या मेरी. कक्षा में बैठने की व्यवस्था कुछ-कुछ गोलाकार, या चौकोर, और वहां भी इस बात पर कोई ध्यान या आपत्ति नहीं कि विद्यार्थी कैसे बैठा है, टांग ऊपर करके या टेढ़ा होकर. वस्तुतः इतनी आज़ादी कि आज़ादी देने का सवाल ही नहीं उठे. जितना सहज विद्यार्थी, शिक्षक भी उतना ही सहज और बेतक़ल्लुफ! क़तई तना हुआ नहीं, तनावग्रस्त नहीं. मैं सभी कक्षाओं में शिक्षकों को सुनता-देखता-परखता रहा और स्वभावतः अपने देश के शिक्षकों से मन ही मन उनकी तुलना भी करता रहा. मुझे लगा कि हमारे देश के शिक्षकों के तनाव का एक बहुत बड़ा कारण उनका ज्ञानाभाव है. यह भय कि अगर विद्यार्थी ने कहीं कुछ ऐसा पूछ लिया जो उन्हें नहीं ज्ञात, तो कलई खुल जाएगी,मुलम्मा उतर जाएगा. (कहीं इसके मूल में गुरु को महान मानने-बताने वाली परम्परा तो नहीं है? गुरु और गोविन्द में से गुरु बड़ा है. फिर भला ऐसा कैसे हो सकता है कि गुरु का अज्ञान ज़ाहिर हो जाए?) इसलिए अनुशासन का डण्डा. चुप रहो. बोलो मत. कुछ भी पूछना हो तो पहले हाथ उठा कर गुरु जी से अनुमति प्राप्त करो, वरना... और इसके विपरीत, यहां की शैली. यहां तो शिक्षक पढ़ाता ही नहीं है. उस अर्थ में जिस में भारतीय शिक्षक 'पढ़ाता' है.

व्याख्यान तो मैंने होते पाया ही नहीं. बस, बातचीत ! लेकिन पूरी तैयारी के साथ. तैयारी जितनी शिक्षक की उतनी ही विद्यार्थी की भी. दरअसल यहां सारा ज़ोर चीज़ों को समझने-समझाने पर है. उसमें दोनों ही पक्षों की पूरी-पूरी तथा सक्रिय भागीदारी रहती है. इस प्रक्रिया में साधनों की विपुलता की भी भूमिका को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जाना चाहिये. विद्यार्थी-शिक्षक का अनुपात ही देखें. किसी भी कक्षा में 20 से ज़्यादा विद्यार्थी नहीं, अक्सर तो 16 ही. इसलिये शिक्षक और विद्यार्थी के बीच संवाद कायम हो सकता है. शिक्षक तो मात्र संकेत करता है, पढ़ता विद्यार्थी खुद है. इसलिए मैंने कहा कि यहां शिक्षक पढ़ाता नहीं है. फिर अच्छी लाइब्रेरी, किसम-किसम की आधुनिकतम सहायक सामग्री- टीवी, वी सी आर, कम्प्यूटर वगैरह सब कुछ. इन सबका केवल होना ही नहीं, उदार, उन्मुक्त उपयोग भी.

अब यहीं एक विषयांतर कर लूं.

मैं साहित्य का अध्यापक रहा हूं. नौकरी के लिहाज़ से. अन्यथा तो खुद एक विद्यार्थी ही था और हूं. नौकरी करते हुए अक्सर इस सवाल से जूझता रहा हूं कि साहित्य को 'पढ़ाया' कैसे जा सकता है? वह तो रसास्वादन की चीज़ है. कम से कम पुराना साहित्य. नया साहित्य भी रस का न सही, आस्वाद का आकांक्षी तो है ही. ग्रहण तो उसे भी करना ही होता है. अब, रसास्वादन या ग्रहण तो खुद ही किया जाएगा, दूसरा कैसे करवा सकता है? रसगुल्ला आप खुद खाएंगे, तभी तो उसका स्वाद आएगा. रसगुल्ले के स्वाद के बारे में व्याख्यान तो बहुत ही बेहूदा बात है. और यही बेहूदगी मैं पूरी ज़िन्दगी करता रहा, और सोचता भी रहा कि क्या बकवास बात है (मैं खयाल हूं किसी और का, मुझे सोचता कोई और है/ सरे-आईना कोई और है, पसे-आईना कोई और). पर इतनी मॉडेस्टी न बरतूं तो कह सकता हूं कि मैंने पारम्परिक अर्थ में कभी पढ़ाया ही नहीं. और शायद यही मेरे आत्मसंतोष का राज़ है. मेरी कोशिश ही यह रही कि मेरे विद्यार्थी खुद साहित्य से रूबरू हों. अगर उन्हें कोई मदद इसमें चाहिये, और मैं कर सकने में समर्थ हूं, तो कर दूं; समर्थ नहीं हूं तो स्वीकार कर लूं. मेरे अध्यापक का तो प्रस्थान बिन्दु ही यह रहा कि मुझे सब कुछ नहीं आता है. बहरहाल.

मूल विषय पर लौटें.

मैंने यहां प्रत्यक्ष देखा कि शिक्षक 'पढ़ाता' नहीं, अनुभव कराता है. शुरू से ही. शायद पहली कक्षा थी, या दूसरी. बात नाप-तौल की थी. दो अध्यापिकाएं और सोलह बच्चे.

मैदान में ले जाकर बच्चों से कहा गया कि उनमें से हरेक एक निश्चित बिन्दु पर खड़ा होकर वहां से पेड़ की दूरी का अनुमान लगाए और उसे अपनी कापी में लिख ले. फिर उसी दूरी को फीते से नाप कर देखे, और दोनों परिणामों की तुलना करे. इसी तरह पेड़ के तने की मोटाई की नाप-जोख, और फिर एक पारम्परिक रेड इण्डियन कबीलाई तरीक़े से पेड़ की ऊंचाई नापने का प्रयोग. सब कुछ खेल के अन्दाज़ में. बच्चों को मज़ा आ रहा था, अध्यापिकाओं को भी, हमें भी. अध्यापिकाओं को देखते हुए मुझे मन्नू भण्डारी से कही राजेंद्र यादव की बात याद आ रही थी कि 'मासटरनी' वह जिसमें मांस न हो और जो केवल टर्र-टर्र ही करती हो! यहां भी इन मासटरनियों पर मांस तो नहीं था (अलबत्ता इसका कारण भिन्न था!) पर ये टर्रा भी नहीं रही थीं .मांस न होने वाला भारतीय कारण (कम वेतन) यहां भी है. पर जब आप कोई काम करें तो उसे पूरी निष्ठा से करें, रस लेकर करें - इस भाव के कारण इनके अध्यापन कर्म में वैसी ऊब दिखाई नहीं दे रही थी जैसी अपने देश में दिखाई देना आम है.

आठवीं कक्षा में चीन के बारे में पढ़ाया जा रहा था. पढ़ाया तो क्या जा रहा था, बात की जा रही थी. कोई पंद्रह-सोलह लड़के लड़कियां, खूब लम्ब-तड़ंग, जैसे हमारे यहां कॉलेज में होते हैं. एकदम रिलेक्स्ड मूड में. शिक्षक भी उतना ही सहज. सामने चीन का एक नक्शा लटका हुआ. शिक्षक ने कल इस कक्षा को चीन के बारे में पढकर, जान कर आने को कहा था. आज विद्यार्थी चीन के बारे में अपनी-अपनी जानकारियां प्रस्तुत कर रहे थे. बैठे ही बैठे. यह ज़ाहिर था कि विद्यार्थियों से अधिक जानकारी शिक्षक को थी. वक़्त ज़रूरत वह उनकी जानकारियों में संशोधन भी करता जा रहा था. चिकडेल महोदय ने हमें बताया था कि इस साल आठवीं के विद्यार्थियों को चीन भ्रमण पर ले जाया जाएगा. (जैसे चीन न हुआ चांदपोल हो गया.) भ्रमण के व्यय का बहुलांश स्कूल वहन करेगा. यह हुई न बात. ऐसे पढ़ा-पढ़ाया जाए तो कुछ बात है !

एक अन्य कक्षा में एक बुज़ुर्ग अध्यापिका बहुत छोटे बच्चों को किताब में से कोई कविता पढकर सुना रही थी. पूरे हाव-भाव और भरपूर अभिनय के साथ. बच्चे भी भरपूर आनन्द ले रहे थे.

लाइब्रेरी बहुत बड़ी नहीं थी, पर स्कूल के लिहाज़ से पर्याप्त थी. पुस्तकों का चयन वैविध्यपूर्ण और अद्यतन था. एकदम साफ-सुथरी, ऐसी कि बैठकर पढ़ने का मन करे. बच्चों को कुछ समय अनिवार्यतः लाइब्रेरी में बिताना होता है. स्कूल का अपना एक अच्छा मंच भी है जिस पर बच्चे समय-समय पर अपनी प्रस्तुतियां देते हैं. एक प्रस्तुति

की डीवीडी हमें पंकज के सौजन्य से देखने को भी मिली. अलग-अलग देशों के महापुरुषों को पूरी मेहनत के साथ जीवंत किया गया था.

दरअसल यहां कई चीज़ों का मेल है. सोने पर केवल सुहागा ही नहीं, वगैरह-वगैरह भी है. ज़्यादातर अभिभावक अपने बच्चों की शिक्षा, उनके सर्वतोमुखी विकास तथा बेहतर भविष्य को लेकर बहुत संज़ीदा, चिंतित और सक्रिय हैं. उनके पास साधनों की कोई कमी नहीं है. समय की कमी होते हुए भी बच्चों के लिए वे समय की कमी को आड़े नहीं आने देते. स्कूल के पास साधन हैं और है उनको उपयोग करने का उत्साह व सलीका. तकनीक का पूरा-पूरा सदुपयोग है. इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह कि पूरी व्यवस्था पर ही जनसंख्या का दबाव बहुत कम है. पूरी की पूरी अमरीकी व्यवस्था दायित्वबोध व ईमानदारी पर आधारित है. सभी स्तरों पर भरपूर आत्मानुशासन है. फिर भला तस्वीर खुशनुमा क्यों न हो?

*

जिस तरह से व जिस गति से मैंने यहां शिक्षकों को पढ़ाते देखा उससे मेरे मन में तुरंत एक सवाल जागा. इस गति व शैली से कोर्स कैसे पूरा हो सकता है? सवाल के मूल में थे अपने देश के अनुभव तथा संस्कार! भारत में शिक्षकों पर बहुत बड़ा दबाव रहता है कोर्स पूरा कराने का. शिक्षा-तंत्र, विद्यार्थी, अभिभावक - सभी शिक्षक का मूल्यांकन इसी आधार पर करते हैं कि उसने समय पर कोर्स पूरा कराया या नहीं. और बेचारा शिक्षक? उस पर बोझ भारी-भरकम पाठ्यक्रम का, विविध स्तरों के विद्यार्थियों (एक कक्षा में 100-125 भी हो सकते हैं) का, कम कार्य दिवसों का, पढ़ाने के अलावा भी बहुत सारे दायित्वों का. ऐसे में कैसे पूरा कराए वह अपना कोर्स? यह उसकी फितरत नहीं मज़बूरी है कि जैसे तैसे ही सही, पाठ्यक्रम की घास काट डाले ताकि ... यहां अमरीका में स्थिति भिन्न है. एक तो कोर्स ही ज़्यादा नहीं रखा जाता. और शायद इसीलिए अमरीका में रहने वाले भारतीय कहते पाए जाते हैं कि यहां पढ़ाई का स्तर भारत की तुलना में नीचा है. हमारे देश में तीसरी कक्षा के बच्चे के मस्तिष्क में जितना ज्ञान (बल्कि सूचना, या जानकारी) ठूंस दिया जाता है, उतना यहां उसके दो-तीन साल बाद तक भी नहीं दिया जाता. लेकिन, यह कहते हुए इस अंतर को भी नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है कि भारत में सूचना उण्डेल देने को ही शिक्षा का पर्याय मान लिया गया है - और यह भ्रामक स्थिति शिक्षा के सर्वोच्च सोपान तक बनी रहती है. यह चेष्टा कभी नहीं की जाती कि आपको कुछ समझाया भी जाए, उसे आपके अनुभव का हिस्सा भी बनाया जाए, आपको स्वतंत्र रूप से

सोचने-समझने के लिए तैयार किया जाए. ऐसा करने की न योग्यता है, न फ़ुरसत, न साधन, न मन.

भरतीय शिक्षा व्यवस्था से, उसकी खामियों से भली-भांति वाक़िफ होने की वजह से मुझे इस अमरीकी स्कूल को देखकर ज़्यादा अच्छा लगा. यहां की पद्धति और स्कूल की तारीफ करते हुए यह बात मेरे ज़ेहन में बहुत साफ है कि जो स्थितियां यहां हैं वे फिलहाल हमारी पहुंच से परे हैं. यह तो मैं शुरू में ही कह चुका हूं कि यह स्कूल यहां के सर्वोत्तम में से है, पर अब यह और जोड़ दूं कि अमरीका में जो सर्वोत्तम नहीं होता, वह भी उत्तम तो होता ही है, निकृष्ट कदापि नहीं. भारत में अभी न तो इतनी समृद्धि है, न और न शिक्षा को इतनी अहमियत. पर जो नहीं है, उसका भी सपना तो देखा ही जा सकता है. पश्चिम से हमने बहुत कुछ लिया है, और अक्सर उसकी आलोचना -निन्दा होती है. जैसे एम टी वी, जैसे फास्ट फूड, जैसे...पर जो यहां अच्छा है वह हमारे अनुकरण का विषय नहीं बनता. शायद इसलिए कि मनुष्य स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह बुराई की तरफ जल्दी खिंचता है, या शायद इसलिए कि व्यावसायिक हितों के चलते वे ही बातें और चीज़ें हम तक पहुंच पाती हैं जिनकी हमें क़तई ज़रूरत नहीं है.

जो हो, मुझे तो इस स्कूल को देखकर बहुत खुशी हुई. यह था मानो मेरे सपनों का स्कूल. थोड़ा ही सही पर भली-भांति पढ़ाने वाला स्कूल. बच्चों को सही संस्कार देने वाला स्कूल, ऐसा स्कूल जहां पढ़-लिखकर तो बच्चे नवाब बनेंगे ही, जहां खेल कूदकर भी खराब नहीं होंगे, नवाब ही बनेंगे. ज़्यादा सही तो यह कहना होगा कि यहां पढ़ाई-लिखाई और खेल-कूद के बीच इस तरह की दीवार है ही नहीं. खेल में ही पढ़ाई है और पढ़ाई में ही खेल है.

स्कूल का यह सुखद अनुभव कराने के लिए धन्यवाद, आरती !

****

उच्च शिक्षा : यहां और वहां

कभी-कभी लगने लगता है कि पूरब और पश्चिम में, भारत और अमरीका में कोई फर्क नहीं है. पर दुःख की बात यह कि इस प्रतीति से खुशी नहीं होती. अगर साम्य अच्छी बात को लेकर होता तो खुशी होती. दुर्दशा की समानता खुशी का कारण कैसे हो सकती है?

यहां यानि अमरीका के अखबार में सिएटल विश्वविद्यालय की एक छात्रा जूलिया उगार्ते की व्यथा पढ़ी तो मुझे अपना देश याद आ गया. यों, याद तो सदा ही रहता है. वह जो अज्ञेय ने लिखा है न कि हम अपने प्रिय को कभी याद नहीं करते, क्योंकि उसे कभी भूलते ही नहीं हैं. तो, देश याद तो तब आता, जब उसे भूला होता, हां, अपनी नौकरी के दिनों की स्थितियां एकदम से, चलचित्र की भांति आंखों के आगे तैर गईं.

इस लड़की जूलिया ने लिखा है कि जिस सिएटल विश्वविद्यालय में वह पढ़ती है वहां 34% स्टाफ अंशकालिक है. इस लड़की ने अमरीकी शिक्षा विभाग की जनवरी 2003 की उस रिपोर्ट का भी हवाला दिया है जिसके अनुसार पूरे देश के कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में 43 प्रतिशत शिक्षक अंशकालिक हैं.

जूलिया ने बड़ी व्यथा के साथ लिखा है कि अमरीकी विश्वविद्यालयों में पूर्णकालिक प्रोफेसर की प्रजाति अब विलुप्त होती जा रही है और इसकी जगह लेती जा रही है एक नई प्रजाति, जिसे एडजंक्ट (Adjunct) का नाम दिया गया है. इस नई प्रजाति का विवरण पढ़कर मुझे अपने देश की उस जमात की याद आ गई जिसकी अपमानजनक स्थिति को थोड़ा सहलाने के लिये हमने एक सम्मानजनक नाम दे दिया है- गैस्ट फैकल्टी. हमारे यहां, राजस्थान में कॉलेजों-विश्वविद्यालयों में कई कारणों से पूर्णकालिक शिक्षकों की जगह ऐसे युवा (और बूढे भी) लेते जा रहे हैं जिन्हें प्रति कालांश की दर से भुगतान किया जाता है. भुगतान की वर्तमान दर 75 पया प्रति कालांश है. स्नातकोत्तर स्तर की पढ़ाई पूरी कर और नेट/स्लेट की वैतरणी पार कर नौकरी की इंतज़ार में बैठे फालतू युवा भागते भूत की लंगोटी यानि इस 75 रुपया प्रति कालांश की दिहाड़ी से अपना पेट पालने की कोशिश कर रहे हैं. राजस्थान में पिछले तीनेक सालों में निजी कॉलेज खूब खुले हैं. इन कॉलेजों के संचालकों को भी यह व्यवस्था खूब रास आ रही है. स्थाई शिक्षकों को दी जाने वाली तनख्वाह और भत्ते और अन्य कई सुविधाएं न देकर दिहाड़ी पर पढ़वा लेना उनके लिये तो नफे-मुनाफे का एक और सौदा बन गया है. जो परिश्रमी और ज़रूरतमन्द युवा हैं, खास कर बड़े शहरों में, उन्होंने भी इस विषम स्थिति को अपने अनुकूल ढाल लिया है. ये लोग एक ही दिन में एकाधिक कॉलेजों में पढ़ाकर ठीक-ठाक पैसा कूट लेते हैं.

इस व्यवस्था के मूल में चाहे जो मज़बूरियां रही हों, एक बात तो यह स्पष्ट है कि इससे उच्च शिक्षा पर होने वाला राज्य सरकार का वित्तीय भार कम हुआ है, और सरकार को यह बात रास आती है. दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि इस व्यवस्था की अन्य जो परिणतियां हैं या हो सकती हैं, उन पर हमारे यहां ज्यादा विस्तार से चर्चा नहीं हुई है. केवल शिक्षक संगठनों ने कुछ आवाज़ उठाई है, पर हमारे यहां दुखद बात यह है कि शिक्षक संगठनों का ज़्यादा सरोकार शिक्षक से है, शिक्षा से बहुत कम, यानि वे ट्रेड यूनियन की तरह काम करते हैं. मुझे संतोष तब होता जब ये संगठन शिक्षक की चिंता के साथ-साथ उतनी ही चिंता शिक्षा के स्तर के उन्नयन की भी करते.

जिस टिप्पणी से मैं यह लिखने को प्रेरित हुआ हूं, उसमें छात्रा जूलिया ने कुछ बड़े सवाल उठाये हैं. वे हमारे लिये भी उतने ही प्रासंगिक हैं. जूलिया ने कहा है कि यद्यपि यह एडजंक्ट प्रोफेसर की व्यवस्था फास्ट फूड और इंस्टेण्ट मैसेज के युग के अनुरूप प्रतीत होती है, पर इससे उच्च शिक्षा के प्रासाद में दरारें पड रही हैं. छात्रा की पीड़ा है कि इस व्यवस्था के तहत काम कर रहे प्रोफेसरगण विद्यार्थियों को चर्चा और विमर्श के लिये उपलब्ध नहीं होते और इससे विश्वविद्यालयों का अकादमिक पर्यावरण नष्ट होता जा रहा है. छात्रा ने और भी कई पीड़ाएं व्यक्त की हैं, पर उनके विस्तार में जाने का यह अवसर नहीं है.

अमरीकी समाज तो सूचना प्रौद्यौगिकी का समाज है. यहां इण्टरनेट, ई-मेल जैसे साधन न केवल मौज़ूद, बल्कि लोकप्रिय भी हैं. कम्प्यूटर का प्रयोग विद्यार्थी करते ही करते हैं. पर ये सारे साधन मनुष्य के मुक़ाबले तो दोयम दर्ज़े के ही हैं. भारत में तो खैर ये दोयम दर्ज़े के विकल्प अभी दूर की कल्पना हैं.

जो बात इस छात्रा ने कही है वही बात हमारे शिक्षा नीति निर्माताओं से भी कही जानी चाहिये. इसने कहा है कि यद्यपि उच्च शिक्षा के सामने बजट की समस्याएं हैं (अमीरों के देश अमरीका में भी!) पर बजाय शिक्षकों के वेतन मद में कटौती के, बचत के अन्य उपाय सोचे और खोजे जाने चाहिये.

भारत का अर्थ संकट तो और गहरा है. राजस्थान का और भी ज़्यादा. संकट इस कारण और भी गहरा जाता है कि सारी शिक्षा सरकारी वित्त पोषण की ही मोहताज है. और सरकार के सामने कई हाथ, कई कटोरे होते हैं. शिक्षा के कटोरे में पैसा डालना उसे चुनाव के लिहाज़ से लाभदायक नहीं लगता. लेकिन, सवाल यह है कि क्या समाज को भी इस

चिंताजनक अवस्था को स्वीकार कर लेना चाहिये? कोई प्रतिरोध नहीं करना चाहिये? कोई विकल्प नहीं देना चाहिये ?

हमारे यहां गैस्ट फैकल्टी के विरोध में समाज या विद्यार्थियों की कोई स्पष्ट आवाज़ सुनाई नहीं दी है. समाज में मैं शिक्षक संगठनों को भी शामिल कर रहा हूं. यदि इस छात्रा से प्रेरणा ली जा सके तो कहूंगा कि गैस्ट फैकल्टी की दोषपूर्ण, नुकसानदायक और अपमानजनक व्यवस्था के विरोध में शिक्षकों, शिक्षक संगठनों, विद्यार्थियों, विद्यार्थी संगठनों और अभिभावकों सबको एकजुट होना चाहिये.

बहस इस बात पर तो हो सकती है कि सरकार उच्च शिक्षा का कितना भार वहन करे, करे भी या न करे, पर भार उठाने की उसकी असमर्थता का खामियाज़ा समाज क्यों भुगते? पर यह बात उठानी तो समाज को ही पड़ेगी. ठीक वैसे ही जैसे अमरीका में इस लड़की ने उठाई है.

****

जोड़ने वाला पुल

भारत में रहकर इतना पता नहीं चलता कि तकनीक किस तरह और किस हद तक आपके जीवन को बदल रही है, जबकि परिवर्तन वहां भी कम नहीं हुए हैं. मेरी पीढ़ी के लोगों की स्मृति में वह ज़माना ताज़ा ही है जब टेलीफोन एक विलासिता की चीज़ हुआ करता था और उसके बदसूरत काले चोगे को उठाकर दूसरी तरफ से आने वाली ऑपरेटर की ऊबी हुई, कर्कश आवाज़ में 'नम्बर प्लीज़' की प्रतीक्षा करनी होती थी. प्रतीक्षा इसलिए कि यह क़तई ज़रूरी नहीं था कि ड्यूटी के समय भी ऑपरेटर महोदय/महोदया अपनी सीट पर हों ही. उनका चायपान या गप्प गोष्ठी में व्यस्त होना अपवाद से अधिक नियम ही हुआ करता था, और तब बन्दा कर भी क्या सकता था इंतज़ार करने के सिवा. उस ज़माने में, जो अभी भी ज़्यादा पुराना नहीं हुआ है, यह भी आम ही था कि आप डाकतार विभाग के पीसीओ में जाकर ट्रंक काल बुक करवाते थे और आपका कॉल 6-8-10-20 घण्टे में लगता था, नहीं भी लगता था. तब संचार का मुख्य माध्यम चिट्ठियां हुआ करती थीं. टेलीग्राम तो किसी इमर्जेंसी में ही दिया जाता था. 'तार वाला' सुनते ही कलेजा धक्क से बैठ जाया करता था, कहीं कोई बुरी खबर न हो! और इस बात को भी कितने दिन बीते हैं कि टीवी का केवल एक ही चैनल हुआ करता था, वह भी श्वेत-श्याम, और

उस पर कृषि दर्शन जैसे विकासात्मक कार्यक्रमों के बीच एकमात्र आकर्षण हुआ करता था सप्ताह में एक या दो बार आने वाला चित्रहार. और ऐसी ही कितनी ही बातें. कितनी तेज़ी से बदला है हमारा चतुर्दिक !

लेकिन भारत से अमरीका आकर, यहां की ज़िन्दगी देख कर लगा कि अभी तो बहुत कुछ बदलना शेष है हमारे यहां. ऐसा नहीं है कि हम पिछड़े हुए हैं, हमने तरक्की नहीं की है. मैं तो मात्र यह कहना चाह रहा हूं यहां बहुत कुछ ऐसा है जो अभी हमारे यहां नहीं है. चाहें तो यह समझ लें कि तकनीक के लिहाज़ से हमारी तरक्की की रफ्तार धीमी है. यह अमरीका में ही पता चलता है कि तकनीक ने किस तरह लोगों की ज़िन्दगी को बदला है. इस लेख में मेरा लक्ष्य सारे तकनीकी परिवर्तनों को चिह्नित या सूचीबद्ध करना नहीं है. न तो यह सम्भव है और न मैं इसके लिए योग्य हूं. मैं तो केवल इतना कर रहा हूं कि अमरीका में तकनीक के क्षेत्र में जो मुझे अच्छा व नया लगा, उसका वर्णन कर रहा हूं. तकनीक के साथ जो दूसरे बहुत सारे मुद्दे जुड़े हुए हैं उनके विस्तार में जाने का का यह उपयुक्त स्थान नहीं है, इसलिये उन पर चर्चा फिर कभी.

पिछले तीन-चार दशकों में कम्प्यूटर ने सारी दुनिया में बड़े और क्रांतिकारी बदलाव किए हैं. अब यही देखिये कि भारत में ही यह किसने सोचा था कि आप जैसलमेर में बैठकर जमशेदपुर से कन्याकुमारी तक का रेल आरक्षण करवा सकेंगे? यह कल्पना अब एक ऐसी हक़ीक़त बन गई है कि किसी का इस पर ध्यान तक नहीं जाता. यह कमाल कम्प्यूटर और इण्टरनेट का है. बावज़ूद इसके कि भारत में अभी भी कम्प्यूटर आम नहीं खास ही है और इण्टरनेट की गति अभी भी बैलगाड़ी वाली ही है. यहां अमरीका में और वह भी माइक्रोसॉफ्ट के मुख्यालय वाले शहर रेडमंड (सिएटल) में और यहां भी सॉफ्टवेयर इंजीनियर्स के साथ रहते हुए कम्प्यूटर और इण्टरनेट के जो उपयोग देखे उनसे मैं एक साथ ही चकित और आह्लादित दोनों ही हुआ. यह जैसे हमारे आने वाले कल की एक झलक थी मेरे लिये.

यहां कागज़-कलम तो जैसे अब अजायबघर की चीज़ हो गए हैं. सारा ही काम कम्प्यूटर पर हो जाता है. अगर कभी लिखने की तलब भी हो तो डिजी पेन (Digi-pen) से कम्प्यूटर के स्क्रीन पर ही लिख लिया जाता है. आपको दफ्तर छुट्टी की अर्जी भेजनी है, ई-मेल कर दिया. पार्टी का निमंत्रण देना, उस निमंत्रण को स्वीकार-अस्वीकार करना है, ई मेल सेवा चौबीसों घण्टे हाज़िर है. डाकिये की प्रतीक्षा बीते ज़माने की बात हो गई है. घर का सारा हिसाब-किताब, सारा रिकार्ड, सारे दस्तावेज़ों की शरणगाह कम्प्यूटर है. इस

कम्प्यूटर ने आपकी स्मृति से बहुत सारा दायित्व लेकर अपने ऊपर ओढ़ लिया है. मित्रों-रिश्तेदारों के जन्म-दिन वगैरह आप क्यों याद रखें? कम्प्यूटर जी हैं न आपकी इस सेवा के लिये. बल्कि, आप अगर चाहें तो साल-छह महीने पहले ही, जब भी आपको फुर्सत हो, ई-कार्ड ही कम्प्यूटर में फीड करके रख दें. कम्प्यूटर स्वतः यथासमय उन्हें प्रेषित कर देगा. वह आपको यह भी बता देगा कि आपका कार्ड कब देखा गया.

दरअसल अमरीका में कम्प्यूटर विलासिता या सुविधा की चीज़ न रहकर ज़रूरत की चीज़ बन गया है. नित नए शोध और त्वरित विकास के कारण उसकी कीमत भी अब आम आदमी की पहुंच से बाहर नहीं रह गई है. ऊपर से इंटरनेट की सुलभता व तेज़ गति. वस्तुतः इण्टरनेट की जितनी तेज़ गति यहां है उसकी भारत में रहकर कल्पना भी नहीं होती. सोने पर सुहागा, वायरलेस कनेक्टिविटी (Wireless connectivity) यानि बिना तार के ही इण्टरनेट से जुड़ जाने की सुविधा. यह पूरा सिएटल शहर ही वायरलेस इण्टरनेट युक्त है. यानि आप अपना लैप टॉप लेकर शहर में कहीं भी इण्टरनेट का इस्तेमाल कर सकते हैं. अलबत्ता इसकी कीमत चुकानी पड़ती है. कीमत क्रेडिट कार्ड के माध्यम से ऑन लाइन चुकाई जा सकती है. परिणाम यह कि पार्कों में, रेस्तराओं में, शॉपिंग मॉल्स में, पिकनिक स्थलों पर, हवाई अड्डों पर - हर कहीं लोग अपने-अपने लैप टॉप्स पर काम करते नज़र आते हैं. यहां का काफी कुछ, कहें तो सब कुछ, इण्टरनेट पर है. आपको सिनेमा जाना है, नेट पर देख लें शो कितनी बजे शुरू होता है. यह भी कि थिएटर तक पहुंचने का रास्ता क्या है. टिकिट भी नेट पर ही खरीद लें. यहां ज़्यादातर चीज़ों के टिकिट नेट पर खरीदे जा सकते हैं. हम सिएटल से लास वेगस गए-आए. वायुयान टिकिट खरीदने कहीं जाना नहीं पड़ा. इण्टरनेट पर ही काम हो गया. वहां के होटल की बुकिंग भी घर बैठे ही नेट से करवा ली. वैंकुवर (कनाडा) में भारतीय फिल्मी सितारों शाहरुख, रानी मुखर्जी, प्रीति ज़िण्टा, अर्जुन रामपाल वगैरह का एक शो देखने गए. टिकिट घर बैठे इण्टरनेट पर खरीदे और प्रिण्टर पर उनके प्रिण्ट निकाल लिए. इतना ही नहीं, घर पर ही यह भी देख लिया पचास हज़ार दर्शकों की क्षमता वाले उस कोलीज़ियम (थिएटर) में हमारी सीटें कहां होंगी. पूरा नक्शा नेट पर था. कनाडा की सड़कों वगैरह के भी विस्तृत मान-चित्र नेट पर थे. हम अपने घर, सिएटल, से कनाडा की सड़कों का पूरा मानचित्र नेट से उतारकर ले चले थे और उसी के सहारे बगैर एक भी जगह किसी से पूछे सीधे आयोजन स्थल पर ही पहुंचे.

दुकानों वगैरह में कम्प्यूटर का इस्तेमाल बहुत आम है. बल्कि इस कारण व्यापार-कर्म बहुत सुगम हो गया है. वैसे यह भारत में भी थोड़ा-बहुत हुआ है, खास तौर पर बड़े स्टोर्स

में. पर यहां तो बहुत सारी खरीद-फरोख्त इण्टरनेट पर ही हो जाती है. इसमें दो-तीन बातों की बड़ी भूमिका को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए. व्यापार यहां एकदम साफ-सुथरा है. यानि जो माल बताया या प्रचारित किया गया है, हू-ब-हू वही आपको मिलेगा. कोई धोखा-धड़ी नहीं होगी. कोई झूठ-फरेब नहीं. मोल-भाव होता नहीं. और इसके बाद भी, पसन्द न आने पर माल वापस लौटाने की खुली सुविधा तो है ही. लोगों के पास समय की भी कमी है. फलतः इण्टरनेट पर व्यापार खूब फल-फूल रहा है. दुकानों में ग्राहकों की सुविधा के लिए भी अनेक कम्प्यूटर लगे रहते हैं.

अमरीका में कम्प्यूटर व इण्टरनेट की सफलता व लोकप्रियता में बहुत बड़ी भूमिका भाषा की भी है. पश्चिम में तकनीक की भाषा अंग्रेज़ी ही है, इसलिए यहां के लोगों को कोई असुविधा नहीं होती. भारत जैसे बहु भाषा-भाषी देश में, जहां अभी शिक्षा का भी ज़्यादा प्रसार नहीं हो पाया है, अंग्रेज़ी का कम्प्यूटर कैसे आम हो सकता है? ऐसा नहीं है कि कम्प्यूटर पर हिन्दीकरण के प्रयास ही नहीं हुए हैं. विश्व की सबसे बड़ी सॉफ्टवेयर कम्पनी माइक्रोसॉफ्ट ने अपने बहुत सारे लोकप्रिय सॉफ्टवेयर्स के हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के संस्करण भी बाज़ार में उतारे हैं. पर वे अभी अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाए हैं. अलावा इसके कि खुद भारत के सरकारी तंत्र की कोई गहन रुचि भारतीय भाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा देने में नहीं है, और इस कारण बाहर की दुनिया भी हमारी भाषाओं को तवज्जोह नहीं देती है, अन्य कई कारण भी हैं कि कम्प्यूटर पर भारतीय भाषाएं आम नहीं हो पा रही हैं. हिन्दी की ही बात लें. अभी तो हिन्दी का कोई मानक तथा सर्वमान्य कुंजी पटल ही नहीं है, तकनीकी शब्दों के एकरूप हिन्दी पर्याय सुलभ नहीं हैं, आदि. फिर जो आदमी ज़रा-सा भी पढ़ा लिखा है वह भारतीय भाषा की बजाय अंग्रेज़ी का प्रयोग कर अपने 'शिक्षित' होने का परिचय देना चाहता है. ऐसे में कोई भी व्यावसायिक सॉफ्टवेयर कम्पनी भारतीय भाषाओं में सॉफ्टवेयर क्यों बनाए? इस तरह एक दुश्चक्र बन जाता है. अमरीका में इस तरह की दिक्कतें नहीं हैं. और भी बातें हैं. लोगों में परिष्कृत नागरिक बोध है. वे चीज़ों को तोड़ते-फोड़ते या विकृत नहीं करते. इसलिए तकनीक की जन-सुलभता भी सम्भव हो जाती है. लेकिन इसी के साथ यह भी कि यहां चीज़ों का रख-रखाव बहुत नियमितता से होता है. अगर सार्वजनिक टेलीफोन या कम्प्यूटर है तो वह चालू तो होगा ही. भारत में यह ज़रा कम देखने को मिलता है. टेलीफोन होता है पर अक्सर खराब. इससे लोगों में खीझ होती है और वह खीझ तोड़फोड़ के रूप में व्यक्त होती है. अमरीका में व्यवस्था का काम करना अपवाद नहीं नियम है. अगर कोई साइट है तो वह अद्यतन तो होगी ही. भारत में अभी यह संस्कृति नहीं है.

बहुत सारे विभागों ने अपनी साइट्स तो बना दी है पर सूचनाओं को ताज़ा करने में वे कोई दिलचस्पी नहीं लेते. जन संचार से जुड़े एक बड़े प्रतिष्ठान की साइट देख रहा था. पाया कि सर्वोच्च अधिकारी के रूप में उन भद्र महिला का नाम ही चल रहा है जो छह माह पहले स्थानांतरित होकर जा चुकी हैं. मैंने चाहा कि संस्थान को ई-मेल कर यह संशोधन करवा दूं, तो पता चला कि संस्थान का ई-मेल अकाउण्ट ही सक्रिय नहीं है. यह तो एक नमूना है. वस्तुतः हमने अभी तकनोलॉजी को अपने जीवन का भाग बनाया ही नहीं है. यहां तक कि आप आम तौर पर यह भी उम्मीद नहीं कर सकते कि टेलीफोन करने से ही आपका काम हो जाएगा. आपसे यह अपेक्षा की जाएगी कि आप खुद हाज़िर हों. लुत्फे-मै तुझ से क्या कहूं? हाय कमबख्त तूने पी ही नहीं ! इसी के साथ एक और बात. बहुत मामलों में अमरीकी समाज एक नैतिक समाज है. है या बना दिया गया है. जो हो, इसके सुफल दिखाई देते हैं. यहां पाइरेटेड सॉफ्टवेयर (Pirated Software) का प्रयोग करीब-करीब नहीं होता. सॉफ्टवेयर बनाने वालों को अपने किये का पूरा-पूरा प्रतिफल मिलता है, परिणामतः नए-नए सॉफ्टवेयर विकसित होते हैं, इससे प्रयोक्ता को काम करने में आसानी होती है. एक सुचक्र बनता है.

*

इसी कम्प्यूटर तथा इण्टरनेट ने और भी अनेक रोचक तथा उपयोगी बदलाव किए हैं. मुझे यहां यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि फिल्म रोल वाले कैमरे अब पूरी तरह लुप्त हो गए हैं. उनकी जगह ले ली है डिजिटल कैमरों ने. न फिल्म खरीदने, लोड करने का झंझट, न उसे डेवलप और प्रिण्ट कराने का. बटन दबाओ और फोटो तैयार. इससे भी आगे, आप खुद कलाकार बन जाएं अगर आपके पास कम्प्यूटर हो. अपने कैमरे से सीधे कम्प्यूटर पर फोटो अपलोड (upload) करें और फिर उस फोटो में मन चाहे सुधार, संशोधन, परिवर्तन कर लें. बहुत ज़्यादा कलात्मक निपुणता होनी भी ज़रूरी नहीं. यह दायित्व सॉफ्टवेयर ही वहन कर लेता है. घर में अगर प्रिण्टर भी हो तो फोटो का प्रिण्ट भी निकाल लें अन्यथा कैमरा या केवल उसकी मेमोरी (माचिस की लम्बाई-चौड़ाई के आकार की एकदम पतली पट्टी) या किसी और माध्यम पर अपनी छवियां ले जाकर प्रिण्ट बनवा लें , बल्कि खुद ही बना लें . अमरीका में तो ऐसी मशीनें जगह-जगह लगी हैं जिन पर आप खुद अपने प्रिण्ट बना सकते हैं. इस डिजिटल तकनीक ने फिल्म रोल वगैरह का झंझट तो खत्म किया ही है, इससे एक बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन यह हुआ है कि बेहतर फोटोग्राफी के लिए आप जितने चाहें उतने फोटो खींच सकते हैं, बिना यह चिंता किए कि फिल्म खर्च हो रही है. जो फोटो अच्छा लगे उसे रख लें, शेष को मिटा दें.

परिणाम तत्क्षण देखे जा सकते हैं (कैमरे के पीछे ही छोटा-सा स्क्रीन होता है) इसलिए यह तै करना भी सम्भव है कि एक ही दृश्य को और शूट किया जाए या नहीं.

*

कुछ ऐसा ही बदलाव संगीत के क्षेत्र में भी आया है. चलते-फिरते संगीत सुनने की सुविधा वॉकमेन ने सुलभ कराई थी. जब संगीत डिजिटल हुआ तो सीडी बजाने वाले डिस्कमैन आ गए. सीडी की ध्वनि निश्चय ही कैसेट की ध्वनि से बेहतर होती है. इस बीच 78 आरपीएम(RPM) के रिकार्ड, तथा ईपी(EP), एलपी(LP) तो गायब ही हो गए. अब आई एक नई तकनीक ने कैसेट या सीडी को भी अप्रासंगिक कर दिया है. आप इण्टरनेट से सीधे ही संगीत खरीद कर उसे अपने प्लेयर या कम्प्यूटर पर सुन तथा सुरक्षित रख सकते हैं. यानि संगीत का संग्रह आपके उपकरण की स्मृति में ही. अलग से कैसेट, सीडी, डीवीडी रखने की आवश्यकता नहीं. फिलहाल तो इससे पायरेसी पर भी नियंत्रण हुआ है. सभी जानते हैं कि पायरेसी संगीत को किस तरह तबाह करने लगी थी. इस नई तकनीक में जो भी संगीत आप डाउनलोड करते हैं उसका मूल्य चुकाना ही होता है. इस तकनीक में संगीत की क्वालिटी बेहतर होती है और उसे संग्रह करने में जगह प्रयुक्त नहीं होती. एक और बड़ी बात यह कि नवीनतम संगीत सारी दुनिया में एकसाथ सुलभ हो जाता है. यह नहीं कि आप प्रतीक्षा करें कि आपके म्यूज़िक स्टोर पर नया सीडी आया है या नहीं. और यह भी कि आप केवल अपना मनचाहा संगीत खरीदते हैं. पसन्द का एक गीत खरीदने के लिए पूरा सीडी नहीं खरीदनी पड़ती.

इसी किताब में एक अन्य लेख में एक और बदलाव की चर्चा मैंने की है. वह है पेपर करेंसी (भारतीय भाषा में नोट, अमरीकी अंग्रेज़ी में बिल) का लगभग पूरी तरह विस्थापन. अमरीका में क्रेडिट कार्ड का चलन बहुत अधिक है. दुकानों, सेवाओं, यहां तक कि सरकारी संस्थानों तक में क्रेडिट कार्ड स्वीकार्य हैं. आपको जेब में पैसे रखने की ज़रूरत ही नहीं. दुकानदार को हिसाब-किताब करने की ज़रूरत नहीं. सारा काम कम्प्यूटर कर लेता है. इसी वजह से कर चोरी भी नहीं होती.

परिवर्तन और भी बहुतेरे हो रहे हैं. पर अभी वे बहुत लोकप्रिय नहीं हुए हैं. लेकिन एक बात पक्की है. इन सभी परिवर्तनों से मनुष्य का जीवन अधिक सुगम होता जा रहा है. द ग्रेट डिजिटल डिवाइड (The great digital divide) की सारी चर्चाओं तथा इस बात के बावज़ूद कि यह तकनोलॉजी नए सिरे से दुनिया को 'हैव्स और हैव नॉट्स' (Haves and have-nots) में बांट रही है, मुझे यह लगता है कि इन परिवर्तनों का लाभ अब जल्दी

जल्दी नीचे तक पहुंचने लगा है. तकनोलॉजी अब विलासिता की वस्तु नहीं रह गई है. टेलीफोन करते हुए, मनीऑर्डर भेजते हुए, रेल का आरक्षण कराते हुए, और ऐसे ही बहुत सारे कामों में कतार का आखिरी आदमी भी तकनोलॉजी से लाभान्वित होता है. इस तरह एक अर्थ में तो तकनोलॉजी गरीब-अमीर, विकसित-अविकसित, पूर्व-पश्चिम की खाई को पाट भी रही है. भला ऐसी सकारात्मक और जोड़ने वाली तकनीक का स्वागत कौन न करना चाहेगा?

****

सोनमछली

पिछले कुछ वर्षों में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो क्रांतिकारी विस्तार हुआ है उसकी वजह से भारत की युवा पीढ़ी के लिए अमरीका और भी नज़दीक का तथा सम्भावनापूर्ण देश बन गया है. भारत से कम्प्यूटर में कोई डिप्लोमा या डिग्री, या अन्य कोई दक्षता प्राप्त की जाए और फिर अमरीका आकर उसे बढ़ाया जाए तथा यहीं नौकरी कर ली जाए. अपने देश के संसाधनों से पढ़ लिखकर, अमरीका आकर, यहां नौकरी कर 'अपने देश की सेवा' करने का स्वप्न देखने वालों की तादाद दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है. यह कहना अनुचित होगा कि इस स्वप्न के मूल में केवल डॉलर की चमक और खनक है . तकनीक के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए लगभग इतना ही या इससे भी बड़ा आकर्षण अद्यतन के सजीव सम्पर्क का भी है. यह कहना इसलिए भी ज़रूरी है कि अच्छा वेतन अब भारत में भी मिलने लगा है. दृश्य माध्यमों के विस्तार ने अमरीका की चमक-दमक भरी ज़िन्दगी की जो अगणित छवियां घर-घर पहुंचाई हैं वे भी युवा पीढ़ी के लिए अमरीका को आकर्षण का केंद्र बनाती हैं. और इस कारण वे लोग भी, जिनके पास इस तरह की तकनीकी योग्यता नहीं है, मेहनत मज़दूरी के बल पर भी अमरीका में रह कर अपना जीवन संवारने का सपना पालने लगे हैं.

पिछले कुछ वर्षों में भारत से अमरीका आने वालों की संख्या में काफी इज़ाफा हुआ है. इनमें पढ़ने आने वाले और काम करने आने वाले दोनों ही शरीक हैं. वृद्धि तो पर्यटकों की संख्या में भी कम नहीं हुई है, लेकिन उनकी चर्चा यहां प्रासंगिक नहीं है.

कम्प्यूटर प्रोफेशनल्स को अमरीका सर्वाधिक आकृष्ट करता है. अमरीका में भी सिलिकन वैली या माइक्रोसॉफ्ट. अपने छह माह के अमरीका प्रवास में मुझे एक ऐसे शहर रेडमण्ड (सिएटल) में रहने का अवसर मिला जहां भारतीय बहुत बड़ी संख्या में हैं. इनके माध्यम से मुझे भी सपनों के इस देश में रहने के यथार्थ को देखने परखने का अवसर मिला. उसी देखे परखे की चर्चा इस लेख में कर रहा हूं.

कम्प्यूटर के क्षेत्र में अमरीका आने वाले ज़्यादातर युवा हैं. पच्चीस-तीस के आस पास. पति-पत्नी दोनों काम करें - यह भी आम है. बल्कि, एकल कामकाजी कम ही हैं. स्वाभाविक हैं कि इनमें से अधिकांश के या तो अभी बच्चे नहीं हैं, या बहुत छोटे हैं. हमारे राजस्थान के युवा यहां बहुत अधिक नहीं हैं. शायद इसका एक कारण शिक्षा के क्षेत्र में हमारा पिछड़ापन हो, पर 'गेहूं छोड़कर मक्की खाना, मेवाड़/मारवाड़ छोड़ कर कहीं नहीं जाना' वाली मानसिकता की भूमिका को भी अनदेखा नहीं किया जाना चाहिये.

भारत में रहते हुए अमरीका आना और यहां रहना जितना आकर्षक लगता है, दरअसल उतना है नहीं. बल्कि कुछ अधिक ही कठिनाइयों, संघर्षों और चुनौतियों से भरा है. अलहदा संस्कृति, भिन्न खान-पान, आचार व्यवहार, भिन्न वेशभूषा संस्कार और भिन्न भाषा! बावज़ूद अंग्रेज़ी के, अमरीकी अंग्रेज़ी बहुत अलग है. एक भिन्न भाषा उसे कहना गलत न होगा. इन सबका आदी होने में वक़्त तो लगता ही है. प्रयत्नसाध्य भी कम नहीं है यह सब. कुछ चीज़ों को आप अपना लेते हैं, कुछ को स्वीकार करना मुश्किल लगता है. शायद कभी-कभी 'न उगलते बने, न निगलते' वाली स्थिति भी आ जाती हो. मैं सोचता हूं, भारत से, खासकर किसी छोटे कस्बे से आने वाली युवती जिसने अपने देश में सलवार सूट के सिवा शायद ही कुछ पहना हो, और जो अगर नव विवाहिता भी हो तो ढेरों चूड़ियों, बिन्दी, बिछुए, पायल, चमचमाते सिन्दूर के बिना अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर पाती हो, जब जीन्स और टी शर्ट जैसी अपेक्षाकृत सम्मानजनक (अन्यथा आम तौर पर तो शॉर्ट और बनियान नुमा कुछ) वेशभूषा को अपनाने को तथा अपने बहुत सारे प्रसाधनों – सुहाग चिह्नों को छोड़ने को विवश होती होगी तो उसे कैसा लगता होगा? यह ठीक है कि अमरीका में कोई आपके कपड़ों की चिंता नही करता, कोई उस पर टिप्पणी भी नहीं करता, लेकिन आप अजूबा बन कर तो काम पर नहीं जा सकते. काम की छोड़ें, बाज़ार भी नहीं जा सकते. आप खुद ही अपने को असहज महसूस करने लगेंगे. 'जैसा देश वैसा भेस' यूं ही नहीं कह दिया गया था. इस कथन की ताकत यहीं आकर

समझ में आती है. फिर, खानपान का मामला. जो लोग घोर शाकाहारी हैं, उनकी तो खैर मुसीबत है ही. बाहर, बाज़ार में ऐसा बहुत कम मिल पाता है जो हमारे मानदण्ड के अनुसार शाकाहारी हो. वस्तुत: शाकाहार की हमारी और इनकी अवधारणा में ज़मीन आसमान का फर्क़ है. यही कारण है कि इनका बहुत सारा शाकाहारी खाना भी भारतीय शाकाहारी के लिए अभक्ष्य होता है. अगर बाहर खाना ही पड़ जाए (और नौकरी में तो ऐसे अवसर आते ही रहते हैं) तो आपके विकल्प अत्यधिक सीमित हो जाते हैं. अगर आप घोर शाकाहारी न भी हों, सर्वभक्षी भी हों तो स्वाद और पाक विधी की भिन्नता को स्वीकार करना भी आसान नहीं होता. तन्दूरी या मुगलई सामिष भोजन के आदी को अमरीकी भोजन लगभग अग्राह्य ही लगता है. और जहां तक घर पर खाना पकाने की बात है, उन शहरों में जहां भारतीय बहुतायत में हैं, जैसे इस रेडमण्ड/सिएटल में, यहां तो सारी भारतीय खाद्य सामग्री मिल जाती है, लेकिन जिन स्थानों पर भारतीयों का ऐसा जमावड़ा नहीं है वहां तो आप दाल, घी, आटा तक के लिए तरस जाते हैं. यह ठीक है कि धीरे-धीरे आप 'जो है जैसा है' के आदी होते जाते हैं, पर कमी तो खटकती ही है.

अमरीका में वैसी आपसदारी, मुहल्लेदारी नहीं है जिसके कि हम भारतीय अभ्यस्त हैं. कुछ तो व्यस्तताएं और कुछ जीवन शैली तथा सोच. अमरीका में हर व्यक्ति अपनी निजता (Privacy)को इतना महत्वपूर्ण मानता है कि भारत जैसी आपसदारी कल्पनातीत हो जाती है. व्यस्तताएं तो हैं ही. काम के प्रति इनका दृष्टिकोण हमसे बहुत भिन्न है. हर आदमी वाकई अपनी पूरी क्षमता भर, बल्कि उससे भी कुछ अधिक ही, काम करता है. एक देश के रूप में अमरीका की सफलता का राज़ भी इसी में छिपा है. पर इस बात पर कम ही ध्यान जाता है कि काम के प्रति यह जुनून आदमी के साथ नाइंसाफी भी करता है . हम लोग अपनी पिछली यात्रा में करीब डेढ़ महीना यहां रह कर गए. उस दौरान अपने एक पड़ोसी दम्पती की तो एक बार भी शक्ल नहीं देखी. बस, उनके घर की चिमनी से निकलते धुएं से यह एहसास होता कि इस घर में कोई रहता है. दूसरे पड़ोसी दम्पती को कभी-कभार आते-जाते देख लेते. एक दूसरे के घर आना-जाना दूर की बात है, दुआ सलाम तक नहीं. यह बाद में पता चला कि हमारे बेटी-दामाद और उनके बांये-दांये वाले पड़ोसी - तीनों एक ही दफ्तर, माइक्रोसॉफ्ट में काम करते हैं. निश्चय ही भारतीय परिवारों में खूब आना-जाना तथा सुख-दुख में भरपूर सहभागिता है, पर जिस आपसदारी के संस्कार हममें घुले मिले हैं उसका अभाव न खटके यह असम्भव है. सिएटल में हो सकता है यह अभाव न भी खटकता हो, क्योंकि सम्बंध रखने के लिये भारतीय खूब हैं, पर जिन शहरों में भारतीय नहीं या नहीं के बराबर हैं वहां क्या होता होगा? अमरीकी लोगों का भारतीयों के

यहां आना-जाना नहीं जैसा ही है. इसे रंग भेद से जोड़ कर न देखें. यह उनकी जीवन शैली ही है. वैसे में यह लगता होगा कि चचा गालिब की पुकार यहां सात समुद्र पार सुन ली गई है :

रहिये अब ऐसी जगह चलकर, जहां कोई न हो
हम सुखन कोई न हो और हम ज़बां कोई न हो.

बेदर-ओ-दीवार सा इक घर बनाया चाहिये
कोई हमसाय: न हो और पासबां कोई न हो.

पड़िये गर बीमार, तो कोई न हो तीमारदार
और अगर मर जाइये, तो नौह:ख्वां कोई न हो.

तीज-त्यौहार पर अपना देश याद न आए, ऐसा हो ही नहीं सकता. क्रिसमस और नया साल यहां के सबसे बड़े पर्व-त्यौहार हैं. अन्य भी अनेक त्यौहार हैं. खूब धूम-धड़ाका, मौज-मस्ती रहती है. क्रिसमस का उल्लास लगभग नवम्बर से ही प्रारम्भ हो जाता है. इस सबसे आप अछूते क्यों रहें? खुशियां बांटने में हर्ज़ ही क्या है? हैलोवीन पर भारतीय भी अपने घरों के बाहर कद्दू रखते हैं, 4 जुलाई (अमरीकी स्वाधीनता दिवस) को पूरे उल्लास से मनाते हैं और क्रिसमस पर रोशनी की झालर सजाते हैं. लेकिन जब दिवाली आम दिनों की तरह आकर निकल जाए तो? या होली पर कोई आप पर रंग का एक छींटा भी न डाले तो? या राखी पर आपकी कलाई सूनी रह जाए तो? या ईद पर घर से सेवईयों की महक न उठे तो? मैं कुछ ज़्यादा ही भावुक तो नहीं हो रहा? जब देश से बाहर हों तो सेण्टीमेंटल हो जाना अस्वाभाविक नहीं. जो चीज़ें और बातें अपने देश में बेमानी, बल्कि उबाऊ लगती हैं उन तक का अभाव यहां खटकने लगता है.

दोनों देशों के मध्य सांस्कृतिक भिन्नता बहुत अधिक है. एक उदाहरण काफी होगा. जब हमारे दामाद ने अपने किसी सहकर्मी को यह बताया कि उसके सास-ससुर (यानि हम) तीन महीने के लिए उनके यहां आए हैं (पहले हमारा प्रवास कार्यक्रम तीन महीने का ही था. बाद में बढ़ते-बढ़ते छह महीने का हो गया!) तो उसने बहुत गम्भीरता से उसके प्रति अपने हमदर्दी ज़ाहिर की. इस देश में मां-बाप का आपके साथ आकर रहना आनन्द का नहीं अपितु कष्ट और चिंता का विषय होता है. सास-ससुर का तो और भी अधिक. यहीं आकर समझ में आता है कि क्यों अंग्रेज़ी में सास-ससुर पर इतने लतीफे होते हैं. यह समाज निजता और वैयक्तिक स्वाधीनता पर इतना अधिक ज़ोर देता है कि 'या में दो ना

समाय' याद आने लगता है. शायद वैवाहिक सम्बंधों के दरकने-टूटने के मूल में एक बात यह भी है. लेकिन इस सांस्कृतिक वैभिन्य को पचा पाना आसान तो नहीं. कुछ बातों को आप हंस कर टाल सकते हैं. जैसे दामाद के सहकर्मी की सहानुभूति को, लेकिन बहुत सारी भिन्नताएं आप पर भारी भी पड़ती हैं. अब यही बात लें कि यहां की कार्य-संस्कृति भारत की कार्य-संस्कृति से भिन्न है. वैसे, क्या भारत में कोई कार्य संस्कृति है भी? यहां तो जब आपको काम करना है तो सब कुछ को भूलकर काम ही करना है. अधिकतर कम्प्यूटर प्रोफेशनल सुबह आठ बजे दफ्तर जाते हैं और रात नौ बजे भी लौट आएं तो गनीमत है. फिर, घर आकर भी दफ्तर का काम, जो कई बार सुबह के दो-तीन बजे तक भी चलता रहता है. यह अपवाद नहीं, आम है. छुट्टियां बहुत ही कम. बावज़ूद इस बात के कि यहां सप्ताह में पांच दिन ही काम होता है, काम का यह आधिक्य और दबाव मारक नहीं लगता? पति-पत्नी दोनों ही काम करते हों तो और भी अधिक. अपना जीवन स्तर बनाये रखने के लिए दोनों का काम करना ज़रूरी भी है. वेतन डॉलर में मिलता है. एक अमरीकी डॉलर करीब पचास रुपये का होता है. अमरीकी वेतन को भारतीय मुद्रा में रूपांतरित करने पर सुखद आश्चर्य तथा गर्व होता है, लेकिन जब उस बहुत बड़ी राशि को यहां के खर्चों के सामने रख कर देखते हैं तो गुब्बारे की हवा निकलने लगती है. कामकाजी युवा दम्पती की यह विवशता होती है कि वे अपनी संतान को डे केयर सेंटर में छोड़ कर काम पर जाएं. डे केयर सेंटर यहां बहुत अच्छे हैं. एक डे केयर सेंटर हमने देखा. अच्छा था. लेकिन उसकी फीस? न ही पूछें तो बेहतर. मात्र 1800 डॉलर प्रति माह. यानि कोई एक लाख रुपये प्रति माह. भले ही पति पत्नी दोनों काम करते हों, और उनकी तनख्वाह भी लाखों में हो, इस तरह के खर्चे जो आपको अर्श से फर्श पर उतार लाएं, कम नहीं हैं. हर चीज़ महंगी है. किसी ठीक-ठाक रेस्तरां में एक वक़्त का खाना : 50 डॉलर. सिनेमा का एक टिकिट : 10 डॉलर. घण्टे दो घण्टे का कार पार्किंग शुल्क : 10 डॉलर. एक कप कॉफी : 5 डॉलर. हेयर कटिंग : 15 डॉलर. एक बार घर की सफाई : 80 डॉलर. क्या-क्या गिनाऊं? तो, यह सब खर्च करने के लिए काम तो करना ही है. दोनों को. लेकिन तब पारिवारिक जीवन? हम लोग जब पिछली बार यहां थे तो एक दिन बातों-बातों में मैंने बेटी से कहा कि तुम लोग इतना थक-पच कर दफ्तर से आते हो और फिर रात ग्यारह बजे डीवीडी लगाकर फिल्म देखने बैठ जाते हो. सो क्यों नहीं जाते? बेटी ने जो जवाब दिया वह मुझे अब भी हॉण्ट करता है. बोली, पापा, अगर सो जाएं तो फिर साथ कब रहें? सही भी है. काम-काज, नौकरी की व्यस्तता और तनाव. इनके बीच रिश्तों की ऊष्मा को बनाये रखना भी खासा प्रयत्न साध्य हो जाता है. दरअसल यह पूंजीवाद का चरित्र ही है कि वह पहले आपको वैभव की चमक-दमक दिखाकर अपनी तरफ आकृष्ट

करता है, आपकी जीवन शैली को अपने सांचे में ढालता है, आपको बहुत सारी सुख सुविधाओं का अभ्यस्त बनाता है. फिर तो आप खुद ही उसके व्यूह में ऐसे फंस जाते हैं कि उस 'स्तर' का निर्वाह करने के लिए निरंतर अधिक खपने-पचने को (अनचाहे भी) विवश होते हैं. यानि तब कम्बल ही बाबाजी को नहीं छोड़ता है.

तो, भारत से लोग जिस वैभव की चमक-दमक से खिंच कर अमरीका आते हैं, धीरे-धीरे वह उनकी एक ऐसी ज़रूरत बन जाता है उसे चाह कर भी छोड़ पाना मुश्किल होता है. 'चाह कर' पर मैं जान-बूझ कर बल दे रहा हूं. आप क्यों कमाते हैं? इसलिए कि अपने कमाये का सुख ले सकें - या कि महज़ इसलिए कि और अधिक खर्च कर सकें? धीरे-धीरे खर्च करना ही आपकी ज़रूरत बनता जाता है. खर्च का सुख उठाने की तो फुर्सत ही कहां बचती है?

यहां अमरीका में नौकरी का अर्थ भारत से बहुत अलग है. आप खुद नौकरी न कर रहे हों तब तो यह देखकर बहुत अच्छा लगता है कि लोग बहुत निष्ठा से काम करते हैं. लेकिन, कोल्हू में पिलने का दर्द तो बैल ही जानता है. काम आपसे ज़िन्दगी का सारा रस ही खींच ले, यह किसे पसन्द आएगा? पर, वरण की स्वतंत्रता तो आप पीछे ही छोड़ आते हैं. यह समाज तो Hire or Fire में विश्वास करता है. और, यहां Fire हो जाने का मतलब बहुत गहरा है. बहुतों के लिए काम न होने का एक अर्थ अमरीका में रहने के अधिकार का खत्म हो जाना भी होता है. कोई भी Fire नहीं होना चाहेगा. और इसलिए, प्रसन्न होने का अभिनय करते हुए काम में पिले रहना पड़ता है.

अमरीका में लम्बे समय तक गोरे और काले के बीच गहरा भेदभाव बरता जाता रहा है. अब स्थितियां बहुत बेहतर हैं. लेकिन मनुष्य स्वभाव का क्या करेंगे आप? इस अनुभूति का क्या करेंगे कि ये विदेशी (आप पढ़ें : हिन्दुस्तानी) यहां आकर हमारे रोज़गार के अवसर कम कर रहे हैं. यह कोई नहीं देखता, या जान बूझकर अनदेखा करता है कि अपने देश के संसाधनों का उपयोग कर वहां पढ़ लिख कर ये लोग इस देश (अमरीका) की समृद्धि में योगदान कर रहे हैं. नज़र आता है तो बस यह कि इनके कारण हमारे यहां बेरोज़गारी बढ़ रही है. बड़े स्थानों व पदों पर क्योंकि शालीन, अभिनय पटु लोग होते हैं, यह अनुभूति सतह के नीचे दबी रहती है, किंतु छोटे काम करने वालों के समक्ष प्रकट हो जाती है. प्रकट न भी हो, अनुभव तो होती ही है. देव आनन्द ने कभी 'देस परदेस' बनाई थी और महेंद्र भल्ला ने 'दूसरी तरफ' लिखा था.

एक पराये देश में रहना क्या होता है, इसका अनुभव दस-पंद्रह दिन के विदेश भ्रमण से नहीं हो सकता. तब तो केवल चमक-दमक-खनक और सुख-सुविधाएं ही नज़र आती हैं. यही दिखता है कि यह देश कितना विकसित है. सब कुछ हरा ही हरा दिखता है. लेकिन जब आप तसल्ली से इन लोगों की ज़िन्दगी देखते हैं तब यह समझ में आता है कि बिना घरेलू नौकर के घर को साफ-सुथरा रखना कितना मुश्किल और प्रयत्न-साध्य होता है, या पूरे पांच दिन दफ्तर में खटने के बाद जब छठे-सातवें दिन घर में खटना पड़ता है तो कैसा लगता है! सुबह जाकर देर रात लौटने पर खाना बनाने की बात तो छोड़िये, फ्रिज में जो बचा खुचा है उसे खाना भी दुश्वार लगता है. आप कभी-कभार रेस्तरां में जाएं यह आपका सुख है, पर जब मज़बूरी में जाएं तो खाना स्वादिष्ट होते हुए भी स्वादिष्ट नहीं लगता. अबोध शिशु को डे केयर या नैनी के भरोसे छोड़कर काम पर जाना कोई सुखद अनुभूति नहीं दे सकता. एक बहुत शिष्ट, शालीन, शानदार समाज में रहने का तमाम सुख इन अनुभवों के कारण एकदम शून्य हो जाता है. तब यह महसूस होता है कि यह समाज चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, आपका अपना नहीं है. कमलेश्वर और नई कहानी के शुरुआती दौर के उनके साथी अनेक कथाकारों ने अजनबीपन के जिस दंश का चित्रण अपनी अनेकानेक कहानियों में किया था, वह यहां कई गुना ज़्यादा महसूस होने लगता है. उन लोगों ने तो गांव से शहर आकर खो जाने की ही पीड़ा व्यक्त की थी , यहां तो पीड़ा अपने देश से बहुत दूर चले आने की तथा नानाविध होती है.

यहां रहकर तथा यहां रह रहे भारतीयों के जीवन को निकट से देखकर मुझे बार-बार अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता 'सोनमछली' याद आती रही. कविता बहुत छोटी है :

हम निहारते रूप
कांच के पीछे
हांफ रही है मछली

रूप तृषा भी
(और कांच के पीछे)
है जिजीविषा.

पर विकल्प क्या है?

जो लोग उच्च शिक्षा प्राप्त कर अमरीका चले आए हैं, यहां कुछ साल रह गए हैं, उनका देश लौटना भी उतना आसान नहीं है जितना आम तौर पर मान लिया जाता है. यहां रहकर आप उन बहुत सारी बातों, सुविधाओं तथा अच्छाइयों के अभ्यस्त हो चलते हैं जो अपने देश में अभी कल्पनातीत ही हैं. चलिये, उनकी बात छोड़िये. अपना देश, जैसा भी हो, अपना है. पर आपने जो दक्षता यहां अर्जित की है, उसके प्रयोग का अवसर भी अगर अपने देश में न मिल पाये तो? काम करने के लिए जिस तरह का वातावरण अमरीका में है, उस तरह का न तो भारत में है, न निकट भविष्य में होने की कोई उम्मीद है. मेरा स्वर बहुत निराशावादी लग सकता है, और मेरे 'देशभक्त' पाठकों को इस बात पर गहरी आपत्ति भी हो सकती है, पर यथार्थ यही है.

ऐसा नहीं है कि लोग अमरीका से लौटे नहीं हैं. लौटे भी हैं और लौटकर उन्होंने देश में अपनी जगह भी बनाई है. लेकिन वह लौटना भी बहुत सहज और सुखद शायद ही रहा हो. जिसे रिवर्स कल्चरल शॉक कहा जाता है, वह तथा अन्य बहुत सारी व्यथाएं इस वापसी के साथ खुद-ब-खुद जुड़ जाती हैं. मुझे तो इस सन्दर्भ में फिर से अज्ञेय ही याद आते हैं. उनकी एक और कविता है, 'नहीं यूलिसिस'[1]. आप भी पढ़िये :

नहीं यूलिसिस
न तुम्हें कभी मिलेगी इथाका
न कभी मुझे मिलेगी द्वारका !
वापसी में यों भी
कोई नगर नहीं मिलते :
प्रवासी लौटते तो हैं
पर उनकी घर वापसी नहीं होती
जहां वापसी होती है वहां उनके घर नहीं होते :
उन्हें कोई नहीं पहचानता.

****

----

1. यूनानी पुराकथा के अनुसार यूलिसिस उर्फ ओडीसियस इथाका का सम्राट था. ट्रोजन युद्ध के कारण उसे दस बरस अपने घर से दूर रहना पड़ा था. महाकवि होमर ने 'ओडेसी' में इसी की कथा कही है.

यात्रा के बाद

अपनी दो अमरीका यात्राओं में जो कुछ मैंने देखा, उसमें से ज़्यादातर मुझे अच्छा लगा, और ऐसा ही मैंने अपने इन सारे लेखों में, जिन्हे अब तक आप पढ़ चुके होंगे, लिखा भी. कई मित्रों ने इन लेखों पर अपनी असहमति और नाराज़गी ज़ाहिर की है. उनके मन में पश्चिम की, और विशेषकर अमरीका की एक छवि बनी हुई है. उस छवि से भिन्न कुछ भी उन्हें स्वीकार्य नहीं. अगर उन्होंने यह मान लिया है कि अमरीका में अति-भौतिकता, नग्नता, अश्लीलता आदि-आदि है, तो बस, फिर है. आप उससे मना कैसे कर सकते हैं? इससे उन्हें कोई फर्क़ नहीं पड़ता कि उनकी छवि सुनी-सुनाई बातों से निर्मित है और आप आंखन देखी कह रहे हैं. एक अन्य छवि अधिक पुख्ता आधार वाली है. जो मित्र वैचारिक रूप से पूंजीवादी संस्कृति के विरोधी हैं वे सैद्धांतिक आधार पर अमरीका के आलोचक हैं. मैं स्वयं भी उसी पक्ष का हूं, और वैचारिक रूप से अब भी अपने को वहीं खड़ा पाता हूं. इस बात का उल्लेख मैंने इस पुस्तक के कई लेखों में, जहां भी उपयुक्त अवसर आया है, किया है. इस पुस्तक की योजना में बड़े, सैद्धांतिक, वैचारिक मुद्दों को उठाने का अवसर नहीं था, इसलिए स्वभावत:वह पक्ष अछूता रहा है. लेकिन औसत नागरिक जीवन, जैसा मैंने अमरीका में देखा, उसकी प्रशंसा करते हुए कतई संकोच अनुभव नहीं करता. इसे मेरा वैचारिक विचलन नहीं माना जाना चाहिए.

यहां, मैं यह चर्चा करना चाहता हूं कि आखिर क्या कारण हैं कि अमरीका का नागरिक जीवन इतना व्यवस्थित और आनन्ददायक है? खास तौर से दूर से देखने पर यह समाज कैसा लगता है, यह चर्चा, और यह चर्चा भी कि क्या वाकई यह एक सुखी समाज है, जैसा कि आम तौर पर मान लिया जाता है,कुछ आगे चलकर! वस्तुत: जब मैं भारत की चर्चा

करते हुए, या उसका हवाला देते हुए अमरीका की प्रशंसा करता हूं तो ऐसा नहीं है कि मेरा भारतीय होना कुछ कम हो जाता है. वास्तव में तो मैं जब अमरीका में था और वहां कुछ भी अच्छा देखता तो मुझे अपना देश याद आता - और मैं सोचता कि काश! मेरे देश में भी ऐसा ही होता. इस बात पर मैं ज़रा भी शर्मिन्दा नहीं हूं, हालांकि मेरे उन मित्रों को यह अच्छा नहीं लगा जो बिना किसी से तुलना किए ही यह तै किए बैठे हैं कि भारत सर्वश्रेष्ठ है. मेरा मानना यह है कि इस तरह तो हम खुद ही अपनी प्रगति के रास्ते बन्द करते हैं. इसमें कोई हर्ज़ नहीं है कि अपनी आंखें खुली रखी जाए और जो भी अच्छा दीखे उसे अपनाने में संकोच न किया जाए.

इन यात्राओं ने मुझे अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाने का मौका दिया है. मैंने महसूस किया है कि वैचारिक आधार पर धारणा बनाना एक बात है, और उसका बहुत महत्व भी है; पर उस धारणा पर, खुद देख कर पुनर्विचार करना और भी अधिक महत्वपूर्ण है. अमरीका में घूमते हुए, वहां मित्रों से चर्चा करते हुए, और फिर भारत आकर उस सब पर पुनर्विचार करते हुए मेरे सामने कुछ बातें उभरी हैं. यहां मैं उन्हीं को प्रस्तुत कर रहा हूँ.

अब तक मैं यह मानता था कि जनाधिक्य भारत की असल समस्या नहीं है. समस्या का उत्स कहीं और है. जैसे हमारे गैर-ज़िम्मेदाराना रवैये में, अव्यवस्था में, नौकरशाही में, राजनीति में, आदि. अमरीका में जो कुछ मैंने देखा उसने मुझे यह मानने को विवश किया कि अमरीका हमसे इसलिए भी बेहतर है कि वहां हमारे जैसा जनाधिक्य नहीं है. इसके साथ ही अन्य बातें भी हैं. लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि जनसंख्या का दबाव सारी व्यवस्था नष्ट कर देता है. वहां जनसंख्या का हमारे जैसा दबाव नहीं है तो हर जगह खुलापन महसूस होता है. आप किसी भी पार्क में चले जाएं, किसी भी मॉल में जाएं, किसी भी दर्शनीय स्थल पर जाएं, लगता है आप बहुत अच्छी तरह सांस ले सक रहे हैं, आपका दम नहीं घुट रहा है. सब कुछ सुव्यवस्थित रूप से संचालित होता है. यह इसीलिए सम्भव है कि वहां जनसंख्या कम है. कहीं भी वैसी भीड़भाड़ नहीं दिखती जैसी देखने के हम अभ्यस्त हो चले हैं. अमरीका का क्षेत्रफल हमसे अधिक है, जनसंख्या हमसे कम. अमरीका का क्षेत्रफल 9,363,364 वर्ग किलोमीटर है, भारत का क्षेत्रफल 3,166,414 वर्ग किलोमीटर. अब इसके सामने दोनों देशों की जनसंख्या को भी देखें. अमरीका की जनसंख्या 291,587,099 है तो उसी समय (जबके ये आंकड़े हैं) भारत की जनसंख्या है 1,065,462,000. बात और अधिक साफ हो जाएगी अगर आप दोनों देशों के जनसंख्या घनत्व को देखें. अमरीका में जनसंख्या घनत्व प्रति वर्ग किलोमीटर 31.1 है तो भारत में

336.5 प्रति वर्ग किलोमीटर. यह स्थिति और खराब होनी ही है, अगर कोई प्रभावशाली कदम न उठाए गए क्योंकि अमरीका में जनसंख्या वृद्धि दर 14.5 प्रति हज़ार है जबकि भारत में यह दर 26.2 प्रति हज़ार है. दोनों देशों की मृत्यु दर में बहुत कम फासला है. अमरीका में यह प्रति हज़ार 8.5 है तो भारत में 9.[i] फर्क़ तो पड़ना ही है. लेकिन, जैसा मैंने कहा, जनसंख्या का कम होना ही एक मात्र बात नहीं है. मैं एक हद तक अब भी यह मानता हूं कि हमारे देश की समस्या व्यवस्थागत भी है. अब तक हमारे यहां सब कुछ करने का दायित्व सरकार ने अपने सर पर ले रखा था. नेहरु के समाजवादी मॉडल की देन रही यह बात. इस सोच का अपना औचित्य था, इसके फायदे भी हुए, लेकिन सरकार किस तरह काम करती है, यह कहना अनावश्यक है. परिणाम यह कि अगर हमें सौ स्कूलों की ज़रूरत है तो पचास ही खोले जाएंगे, उनका भी बंटवारा तार्किक आधार पर नहीं बन्दरबांट के आधार पर किया जाएगा. उन स्कूलों में जितने शिक्षकों की ज़रूरत होगी, उससे कम ही नियुक्त किये जाएंगे, और जितने नियुक्त किये जाएंगे उनमें से भी जो प्रभावशाली हैं वे अपना डेप्यूटेशन वगैरह करवा कर स्कूल में जाने से बच जाएंगे, वगैरह. यह बात अलग से कि जो किसी तरह स्कूल चले भी जाएंगे, वे पढ़ाएंगे या नहीं. लब्बो-लुआब यह कि हम ज़रूरत के अनुसार संसाधन उपलब्ध कराते ही नहीं. इस कारण, अगर जनसंख्या कम भी हो तो स्थिति में क्या फर्क़ पड़ने का है? अमरीका में आम तौर पर ऐसा नहीं है. ज़रूरत के आधार पर संसाधन उपलब्ध कराए जाते हैं. इससे न केवल अव्यवस्था नहीं होती है, लोगों को खीझ नहीं होती, जनाक्रोश भी नहीं भड़कता. अगर आपको बिजली पानी का बिल जमा कराने के लिए तीन-तीन घण्टे कतार में लगना पड़े, रेल्वे स्टेशन पर प्लेटफॉर्म टिकिट लेने के लिए दो घण्टे जूझना पड़े तो यह भी सोचा जाना चाहिए कि ये सब लोग राजस्व में वृद्धि भी तो कर रहे हैं - इन्हें आधारभूत सुविधा क्यों नहीं उपलब्ध कराई जा रही है? हमने तो कमी पैदा करना अपनी आदत में शुमार कर रखा है. इसी में निहित स्वार्थों का हित भी सधता है. आप टेलीफोन कनेक्शन देने के लिए पांच साल इंतज़ार कराएंगे, गैस सिलेण्डर के लिए दस साल(अभी ये अनुभव बहुत पुराने नहीं हुए हैं), रेल में आरक्षण के लिए तीन माह - और यह तब जबकि इनमें से कुछ भी मुफ्त नहीं है. और असल में तो मुफ्त कुछ भी नहीं है. जो मुफ्त दिखाई देता है वह भी अंतत: आपके हमारे टैक्स से ही तो चलता है. इतना ज़रूर कि जनता के वोट से चलने वाली सरकार बहुत अधिक टैक्स नहीं लगा सकती. लेकिन जो टैक्स वह वसूल कर रही है उसका न्यायसंगत उपयोग तो कर सकती है. बड़े और प्रभावशाली लोगों पर बिजली-पानी-टेलीफोन का करोड़ों रुपये का बकाया चलता रहता है, वे किसी न किसी बहाने इसके भुगतान से बचे रहते हैं. इसका खामियाज़ा भुगतता है वह नागरिक जो पूरी

ईमानदारी से अपनी सारी देनदारियां चुकाता है. अगर इसे दुरुस्त कर लिया जाए, तो फिर हमें अधिक जनसंख्या का उतना रोना नहीं रोना पड़ेगा. लेकिन जनसंख्या पर नियंत्रण तो करना ही होगा, भले ही इसके लिए कुछ अलोकप्रिय कदम भी क्यों न उठाने पड़ें.

दूसरी बात जो मैंने अमरीका में महसूस की वह है आम नागरिक में व्यवस्था के प्रति सम्मान का भाव. बात चाहे ट्रैफिक की हो, या क्यू की, धूम्रपान निषेध की या सफाई बनाये रखने की, आम नागरिक सदैव प्रदत्त निर्देशों का अक्षरश: पालन करता मिला. यह सही है कि वहां किसी भी प्रावधान के उल्लंघन पर कड़ी सज़ा का प्रावधान है, पर ऐसा तो हमारे यहां भी है. लेकिन अंतर यह कि हमारे यहां हम जानते हैं कि सज़ा मिलना नियम नहीं अपवाद है, और जो जितना बड़ा है उतना ही वह अपने को तमाम व्यवस्थाओं से ऊपर मानता है, जबकि अमरीका में जो भी व्यवस्था है, वह सबके लिए है. इस कारण आम जीवन बहुत सुगम हो गया है. लेकिन यहीं यह बताना भी आवश्यक समझता हूं कि एक तो अमरीकी समाज में अनावश्यक निषेध नहीं हैं, जैसे कि हमारे यहां हैं. हम तो हर कहीं 'फोटोग्राफी मना है' की तख्ती लटका देते हैं. दूसरे, वह समाज अगर निषेध को ज़रूरी समझता है, उसे लागू करता है तो उसके लिए विकल्प भी सुलभ कराता है. अब धूम्रपान को ही लीजिए. अधिकांश जगहों पर धूम्रपान निषिद्ध रहता है. लेकिन व्यवस्था के नियंता यह भी जानते हैं कि लोग धूम्रपान करेंगे, तो वे ऐसे स्थान भी निर्दिष्ट करते हैं जहां जाकर धूम्रपान किया जा सकता है. या कि कचरा फेंकने की बात को ही लीजिए. आदमी है तो कचरा भी होगा. वे लोग जगह-जगह कचरा पात्र उपलब्ध कराते हैं. या वाज़िब दूरी पर शौचालय (और वे भी नितांत साफ-सुथरे) सुलभ कराते हैं. फिर भला गन्दगी क्यों हो? हम ऐसा नहीं करते. हम लिख तो देंगे कि 'गन्दगी करना मना है', लेकिन यह नहीं सोचेंगे कि केला खाने वाला उसका छिलका डालेगा कहां, या कि अगर कोई दो घण्टे से बाज़ार में घूम रहा है तो वह कहां जाकर अपनी हाजत रफा करेगा? पान खाना हिन्दुस्तानी की आदत है, हम लिख देते हैं-'कृपया पीक यहां न थूकें'. क्या यह पर्याप्त है? यह तो कोई नहीं बताता कि यहां न थूकें तो कहां थूकें? गन्दगी तो होनी ही है, और या होना है निषेध का उल्लंघन! या दोनों!

एक बहुत आश्चर्य की किंतु महत्वपूर्ण बात यह कि औसत अमरीकी जीवन में भरपूर ईमानदारी और नैतिकता है. यह कहते हुए मैं और भी अधिक आश्चर्य के साथ अमरीकी राजनीति और सरकार को अपनी प्रशंसा के दायरे से बाहर रख रहा हूं. मुझे अनुभव हुआ कि आम नागरिक खासा नैतिक और ईमानदार है. आप बड़ी से बड़ी मॉल में चले जाएं, किताबों की दुकान में चले जाएं - कोई आपको सन्देह की निगाहों से नहीं घूरता, क्योंकि

वह सोचता ही नहीं कि आप चोरी कर भी सकते हैं. व्यापारी जिस तरह बिना कोई हिल हुज़्ज़त किये बिका हुआ माल वापस ले लेता है, या नेट आधारित व्यापार वहां जिस तरह पनप रहा है - वह एक नैतिक समाज में ही सम्भव है. एक छोटे-से रेस्टोरेण्ट की नैतिकता की चर्चा मैं इस पुस्तक में कर चुका हूं. एक और ज़िक्र यहां करूं. जिस शहर रेडमण्ड शहर में हम रह रहे थे, वहां हमारी ही कम्यूनिटी (भारतीय अभिव्यक्ति-कॉलोनी) में एक बिल्डर ने कुछ मकान बनाये थे. उनकी नुमाइश थी. पूर्णत: सुसज्जित मकान, ऐसा लगे कि जैसे इनमें कोई रह रहा है, और अभी-अभी बाहर गया है. फ्रिज, टीवी, कम्प्यूटर, रसोई का सामान, पर्दे, किताबें,खिलौने - यानि वह सब कुछ जो एक बसे हुए घर में होता है. इसलिए कि आप देख कर कल्पना कर सकें कि पूरी तरह सुसज्जित होने पर यह घर कैसा लगेगा. यह तो था मार्केटिंग का एक उम्दा नमूना. आश्चर्य की बात यह कि इस सबकी चौकीदारी के लिए कोई नहीं. आदमी तो दूर, ऐसे भरे-पूरे घर के बाहर ताला भी नहीं. आपको देखना है, कुण्डा खोलिए, अन्दर जाइए, अच्छी तरह देखिए, बाहर आइए, कुण्डा लगाइए, बस! किसी को यह भय नहीं कि ऐसे तो घण्टे दो घण्टे में घर का सूपड़ा ही साफ हो जाएगा. होता ही नहीं. बिना बिल के या दो नम्बर के व्यापार की अवधारणा अमरीका में नहीं है. आजकल सॉफ्टवेयर का ज़माना है, और यह देख-जान कर आश्चर्य होता है कि वहां पायरेसी बहुत ही कम है. इसके विपरीत हमारे देश में पायरेसी को उचित ठहराने के लिए भी तर्क़ गढ़े जाते हैं (जैसे यह कि सॉफ्टवेयर बहुत महंगे हैं). इन अच्छी बातों का श्रेय इस बात को दिया जा सकता है कि अमरीका में इन सबके लिये समुचित कानूनी प्रावधान हैं. हैं तो हमारे यहां भी, पर लागू वे केवल अकिंचनजन पर ही होते हैं, और अकिंचन भी मौका लगते ही वी आई पी की जमात में शरीक होकर तमाम कानूनों-नियमों से ऊपर उठ जाना चाहता है. इसके विपरीत अमरीका में, एक सीमित अर्थ में, कोई वर्ग भेद नहीं है. कानून की निगाह में सब समान हैं. इसलिए, चाहे तो आप कह लें कि कानून के भय से, व्यवस्था को बहुत ही कम तोड़ा जाता है. वैसे भी, आम नागरिक के मन में भरपूर नागरिक बोध है. यह नागरिक बोध केवल डण्डे के बल से सम्भव नहीं है. इसके मूल में शिक्षा और संस्कार भी हैं. दुर्भाग्य यह कि हमारे यहां संस्कारों का गुणगान तो खूब किया जाता है, पालन करने की कतई चिंता नहीं की जाती. गड़बड़ हमारे संस्कारों और परम्पराओं में भी है. मुझे हरिशंकर परसाई की एक टिप्पणी याद आती है. उन्होंने लिखा था कि जिस देश में परीक्षा देने जाता हुआ बालक हनुमान जी के मन्दिर के सामने रुक कर यह कहता है कि हे भगवान, अगर तुम मुझे पास कर दोगे तो मैं तुम्हें सवा रुपये का प्रसाद चढ़ाउंगा, उस देश में भला भ्रष्टाचार कैसे खत्म हो सकता है? इसी तरह मुझे तो यह बात भी गड़बड लगती है कि आप किसी पवित्र नदी में स्नान करें तो

आपके पाप धुल जाएंगे. राजस्थान के एक प्रसिद्ध देवता, एक धर्म विशेष के पालकों के व्यापार में हिस्सेदार होते हैं. भक्तों का खयाल है कि भगवान को हिस्सेदार बनाने से उनके व्यापार में बरकत होती है. इस तरह भगवान नैतिक, अनैतिक दोनों ही व्यापारों में शरीक हो जाते हैं. अनैतिक व्यापार पर भी उनकी मुहर लग जाती है. शिक्षा के नाम पर भी हमने संस्कार देने की कोई चेष्टा नहीं की. अगर की होती तो आज जो मूल्यहीनता और संस्कार विहीनता दिखाई देती है, वह कुछ तो कम होती. हमने तो शिक्षा का अर्थ सूचना देने तक सीमित कर रखा है. अगर नैतिक या इसी तरह की शब्दावलि के अंतर्गत कुछ पाठ पढ़ाए भी जाते हैं तो वे विपरीत बाह्य परिवेश के कारण अप्रभावी रहते हैं.

इसी के साथ मैं अमरीका में विद्यमान कार्य संस्कृति की भी चर्चा करना चाहता हूं. मुझे तो वहां हर आदमी भरपूर निष्ठा से काम करता मिला. लगा कि वह जो भी काम कर रहा है, मन से कर रहा है, उसका आनन्द ले रहा है. उसे बेगार की तरह, विवशता में नहीं कर रहा है. अब कुछ लोग इसे पूंजीवाद की देन भी कहते हैं. आपके सर पर हमेशा तलवार लटकी रहती है. स्थाई नौकरी जैसा कुछ भी नहीं है. मेरे पाठक ही सोचें, अगर किसी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपना काम ठीक से करे तो इसमें बुरा क्या है? फिर, वहां अगर काम न करने या खराब तरह से करने पर दण्ड का प्रावधान है तो अच्छे काम के लिए पुरस्कार का प्रावधान भी है. फलत: ज़्यादातर लोग बेहतर काम करने के लिए प्रयत्नरत रहते हैं. इस कार्य संस्कृति से नागरिक जीवन बहुत सुखद हो जाता है. आपको अपना काम कराने के लिए किसी के आगे गिड़गिड़ाना नहीं पड़ता, इधर से उधर चक्कर नहीं लगाने पड़ते, छोटी-सी बातों के लिए बड़ी-सी सिफारिशों का जुगाड़ नहीं करना पड़ता. वस्तुत: भारत में हम इन स्थितियों पर दो भिन्न दृष्टियों से बात करते हैं. जब हम काम करने वाले की दृष्टि से बात करते हैं तो तमाम तरह की सुविधाओं और सुरक्षाओं की अपेक्षा करते हैं. तब हमें काम के समय में ही नमाज़ पढ़ने जाने की छूट भी ज़रूरी लगती है, देर से आने और जल्दी जाने की अक्सर ज़रूरत महसूस होती है, काम के समय में ही दोस्तों-रिश्तेदारों से सुदीर्घ गपशप की आवश्यकता महसूस होती है, अपना काम दूसरे पर और आज का काम कल पर टालने में कोई संकोच नहीं होता है. लेकिन जब हम काम करवाने वाले की नज़र से देखते हैं तो एकदम मुकम्मिल सेवा की अपेक्षा करते हैं. तब हम सामने वाले को वाज़िब छूट तक नहीं देना चाहते, उसकी सीमाओं को भी नहीं समझना चाहते. इस दोहरे मापदण्ड का एक मज़ेदार उदाहरण इस बात में देखा जा सकता है कि वे सरकारी कर्मचारी भी, जो बिना रिश्वत लिए एक तिनका भी इधर से उधर नहीं करते, इस बात पर स्यापा करते मिल जाते हैं कि स्टेट इंश्योरेंस या जी पी

एफ महकमों में बिना रिश्वत कोई काम नहीं होता. एक और मज़ेदार बात यह भी कि हमारा धर्म और हमारी महान संस्कृति हमें क़तई प्रेरित या बाध्य नहीं करते कि हम अपना काम ईमानदारी और निष्ठा से करें. माथे पर लम्बा तिलक लगाए, हाथों में मोटे-मोटे कलावे बांधे, नियम से नमाज़ अदा करने वाले कामचोर, हरामखोर, बेईमानों, भ्रष्टाचारियों को ढूंढने के लिए आपको मशक्कत नहीं करनी पड़ेगी. एक ढूंढो हज़ार मिल जाएंगे. आप दुनिया के कई हवाई अड्डों को देखने-अनुभव करने के बाद जब दिल्ली या मुम्बई के हवाई अड्डे पर आते हैं तो कार्य संस्कृति का अंतर बहुत प्रखरता से महसूस करते हैं. हरामखोरों के प्रति सहानुभूति रखने वाले इसे गरीबी से जोड़ते हैं. निश्चय ही भारत में गरीबी है, कम वेतन, कम सुविधाएं हैं. पर यही एकमात्र कारण होता तो कम से कम ऊंचा और अच्छा वेतन वाले तो कर्मठ होते.

ऐसी ही और बहुत सारी बातें हैं, जिनका अनुभव कदम-कदम पर होता है. वहां था तो लगता, काश भारत में भी ऐसा ही होता. मन में यह सवाल भी उठता कि आखिर क्यों जो अच्छाई अमरीका में है, भारत में नहीं है. इस सवाल का एक उत्तर इस बात में भी है कि अमरीका की आज़ादी हमारी आज़ादी से बहुत पुरानी है. दोनों देशों की तुलना करते हुए इस बात को नहीं भूलना चाहिए. देशों का चरित्र एक दिन में नहीं बन जाता. वक़्त लगता है. लेकिन देखना यह होगा कि क्या हम सही दिशा में बढ़ रहे हैं? गति बाद की बात है.

लेकिन ऐसा क़तई नहीं है कि अमरीका में रहते हुए मुझे भारत की कमियां ही याद आती रहीं. सच तो यह है वहां के जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जिसे किसी भी भारतीय के लिए पचा पाना कठिन है. इस तथाकथित उन्नत समाज में जो घोर व्यक्तिवादिता है अकेले वही हमारे भारत को उस देश से बेहतर सिद्ध करने को पर्याप्त है. लगता है जैसे हर व्यक्ति एक स्वतंत्र और निरपेक्ष इकाई है. अपने परिवेश से एकदम असम्पृ . अपने सिवा किसी की कोई परवाह नहीं. लोक व्यवहार में ये लोग भले ही भरपूर शालीन हों, पारस्परिक व्यवहार के मामले में एकदम ठण्डे हैं. परिवारों में हर एक बस अपनी परवाह करता पाया जाता है.अपने सिवा किसी और के लिए सुई भर ज़मीन भी छोड़ने को कोई तैयार नहीं है. यही कारण है कि वहां शादियां दीर्घजीवी नहीं होती. व्यक्ति के अकेलेपन से जितनी समस्याएं हो सकती हैं, वे सब वहां हैं. वे लोग पालतू पशुओं पर अपना पैसा, प्यार और ध्यान लुटाते हैं, पर परिवारजन के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है. इसके लिए उनके पास तर्क भी यही है कि पालतू पशु कोई अपेक्षा नहीं रखते. यानि जो अपेक्षा रखते हैं उनके लिए उनके पास कुछ नहीं है. हम लोग तो यह मानते हैं कि यह सृष्टि ही परस्पर आदान-प्रदान पर टिकी है. आपसी सहयोग के कारण ज़िन्दगी कितनी खूबसूरत बन जाती

है, यह हम हर रोज़ अनुभव करते हैं, अमरीकी समाज में यह पारस्परिकता नहीं है. उन लोगों को जैसे द्वीप बन कर रहना पसन्द है. अमरीकी अखबारों में पाठकों के पत्रों में जो समस्याएं उठाई जाती हैं वे इस समाज का एक ऐसा चेहरा प्रस्तुत करती हैं जो ईर्ष्या का नहीं दया का पात्र लगता है. ये पत्र ही यह दर्शाते हैं कि यह समाज कितना एकलसुरा है. उस वक़्त लगता है कि सारी बातों के बावज़ूद भारतीय समाज कितना समृद्ध है!

अमरीकी समाज पूंजीवादी समाज है.हर आदमी आपा-धापी में फंसा नज़र आता है. एक व्यावसायिक, औद्योगिक, अर्थ केंद्रित समाज जैसा हो सकता है, वैसा ही वह समाज है. हर आदमी पैसा कमने की धुन में, और ज़्यादा अमीर हो जाने की धुन में कुछ इस तरह डूबा हुआ कि उसे अपने आस-पास का भी कोई भान नहीं. पास के पौधे पर नया फूल खिला है, यह किसे दिखाई देता है? काम के अपने तनाव. काम छूट जाने की तलवार सदा सर पर लटकी हुई. काम का दबाव ऐसा कि नसें अब तड़की, कि अब तड़की. और इस तनाव से मुक्ति के लिए फिर किसम-किसम के व्यावसायिक नुस्खे, जिन्हे खरीदने के लिये काम में और अधिक डूबना ज़रूरी. एक विकट दुश्चक्र! उन्नत जीवन स्तर के निर्वाह की आकांक्षा, और उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए पति-पत्नी दोनों का बैलों की जोड़ी की मानिन्द काम में जुटना अपरिहार्य. इसलिए पहले तो परिवार की वृद्धि स्थगित, और जब लगे कि इस बात को टाला नहीं जा सकता, तो आ गए शिशु के लिए दोनों में से किसी के पास भी वक़्त नहीं. कुल मिलाकर एक ऐसे समाज की तस्वीर जिसे देख कर दया भी आए, गुस्सा भी!

भारत में लोग विदेशी, विशेषत: अमरीकी माल के लिए लालायित रहते हैं. लेकिन अमरीकी बाज़ार में घूम कर और वहां मिलने वाले माल की एकरूपता देखकर भयंकर निराशा होती है. वस्तुत: अमरीका में मानवीय श्रम की बड़ी कमी है. इसका एक विकल्प उन लोगों ने आउट सोर्सिंग्स के रूप में खोजा है, लेकिन इस अवधारणा के प्रचलन से पहले वे लोग एक-रूपी मास प्रोडक्शन द्वारा अपनी इस समस्या से निजात पाने की चेष्टा करते रहे हैं. भारत में उत्पादों में जिस तरह का वैविध्य मिलता है वह अमरीका में कल्पनातीत है. हमारे यहां तो प्रदेशों की बात तो छोड़िए, एक ही शहर के भी अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग तरह की चीज़ें मिल जाती हैं. इसके विपरीत अमरीका के एक से दूसरे छोर तक हू-ब-हू एक ही तरह के उत्पादों का मिलना वहां के बाज़ार की दयनीय दरिद्रता का परिचायक है. न केवल उत्पाद, बल्कि खाद्य पदार्थों-व्यंजनों तक में यही उबाऊ एकरूपता देखने को मिलती है. वहां तो श्रंखलाओं (Chains) की अवधारणा आम है, और उनकी खासियत ही यह एकरूपता है. और इस कारण आप चाहे पूर्वी अमरीका में हों या

पश्चिमी अमरीका में, उत्तर में हों या दक्षिण में आपको हर जगह मैकडोनल्ड्स,पिज़्ज़ा हट, फेट बर्गर,के एफ सी, सबवे,स्टारबक्स मिलेंगे और यह दावा किया जाएगा कि उनका स्वाद मानक स्वाद है, और यह दावा एकदम सच होगा. कहना अनावश्यक है, इस कारण मानवीय स्पर्श तो लुप्त ही हो जाता है.

एक सवाल मुझे बहुत परेशान करता रहा है. इसका कोई उत्तर मैं नहीं खोज पाया हूं. शायद आप कोई मदद कर सकें. सवाल यह है कि जिस देश के नागरिक इतने अच्छे हैं, वह देश खुद क्यों अच्छा नहीं है? देश से मेरा आशय उस अमरीका से है जिसके बारे में, जिसकी अंतर्राष्ट्रीय भूमिका और छवि के बारे में कुछ भी कहना अनावश्यक है. है न मुश्किल गुत्थी! एक उत्तर यह हो सकता है कि यह दोष तो पूंजीवाद में अंतर्निहित है. मेरा सवाल है, वैसी स्थिति में नागरिकों को भी तो पूंजीवाद से प्रभावित होना चाहिए! मुझे ऐसा महसूस नहीं हुआ. आप क्या सोचते हैं?

****

How to keep
an idiot busy.
(Answer at the back)

24 नवम्बर 1945, उदयपुर (राजस्थान).

एम.ए. हिन्दी, पीएच.डी .

36 वर्ष राजस्थान के विभिन्न महाविद्यालयों में अध्यापन एवं प्रशासन के बाद राजस्थान सरकार के कॉलेज शिक्षा निदेशालय में संयुक्त निदेशक के पद से सेवा निवृत्त.

अब अपनी मर्ज़ी का लिखना-पढ़ना.

साहित्यालोचन में विशेष रुचि, साथ ही विभिन्न विषयों पर नियमित लेखन.

लगभग दस पुस्तकें प्रकाशित.

हिन्दी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन.

आकाशवाणी और दूरदर्शन से भी नियमित प्रसारण.

अंग्रेज़ी से अनेक रचनाओं के हिन्दी अनुवाद.

तीन विदेश यात्राएं.

सम्पर्क:
ई-2/211, चित्रकूट
जयपुर-302 021.
फोन : 0141-2440782
मोबाइल : 98295 32504
E mail : dpagrawal24@gmail.com